स्वर्ग-नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया

पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य

स्वर्ग-नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२००९ मूल्य : २२.०० रुपये

विषय-सूची

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।

—चाणक्य

जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है। स्वयं ही संसार में भ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है।

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

संसार कर्मफल-व्यवस्था के आधार पर चल रहा है

✸

यह संसार कर्मफल व्यवस्था के आधार पर चल रहा है—जो जैसा बोता है, वह वैसा काटता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पैंडुलम एक ओर चलता है तो लौटकर उसे फिर वापस अपनी जगह आना पड़ता है। गेंद को जहाँ फेंककर मारा जाए वहाँ से लौटकर उसी स्थान पर आना चाहेगी, जहाँ से फेंकी गई थी। शब्दवेधी बाण की तरह भले-बुरे विचार अंतरिक्ष में चक्कर काटकर उसी मस्तिष्क पर आ विराजते हैं, जहाँ से उन्हें छोड़ा गया है। कर्म के संबंध में भी यही बात है। दूसरों के हित-अहित के लिए जो किया गया है, उसकी प्रतिक्रिया कर्ता के ऊपर तो अनिवार्य रूप से बरसेगी, जिसके लिए वह कर्म किया गया था, उसे हानि या लाभ भले ही न हो। गेहूँ से गेहूँ उत्पन्न होता है और गाय अपनी ही आकृति-प्रकृति का बच्चा जनती है। कर्म के संबंध में भी यही बात है, वे बंध्य, नपुंसक नहीं होते। अपनी प्रतिक्रिया संतति उत्पन्न करते हैं। उनके प्रतिफल निश्चित रूप से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा न होता तो इस सृष्टि में घोर अंधेर छाया हुआ दीखता, तब कोई कुछ भी कर गुजरता और प्रतिफल की चिंता न करता। शास्त्रों का अभिमत इस संदर्भ में स्पष्ट है—

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः।।

—महाभारत वन० अ० २०६।५

मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।

ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्।।

—अध्यात्मोपनिषद् २।५३

ज्ञान का उदय हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्मों के प्रारब्ध भोग तो भोगने ही पड़ते हैं। उनका नाश नहीं होता। धनुष से छूटा हुआ तीर प्रहार करता ही है।

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्रयदु:खरोगानि बन्धनव्यसनानि च।।

—चाणक्य

मनुष्यों को अपने अपराध रूपी वृक्ष के दरिद्रता, रोग, दु:ख, बंधन और विपत्ति आदि फल मिलते हैं।

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैबेतरस्य च।

—महाभारत, उद्योगपर्व ४२/२३

राजन् ! धर्म और पाप दोनों के पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनों का ही उपभोग करना पड़ता है।

अपने किए हुए पाप अथवा पुण्य के फल मनुष्यों को भोगने ही पड़ते हैं। भोगने से ही कर्मफल भुगता जाता है। भोगे बिना कोई रास्ता नहीं, भोगे बिना शुद्धि नहीं होती और तभी (भोगने के बाद ही) कर्म-बंधन से छुटकारा मिलता है।

जो पापी हैं, वे दरिद्र हैं। क्लेश, भय और संकट, संतापों से वे घिरे रहते हैं और बेमौत मरते हैं, पुण्यात्माओं के सन्मुख उनके शुभ कर्मों के सत्परिणाम अनेक सुख-साधनों के रूप में उपस्थित होते रहते हैं।

पादन्यासकृतंदु:खंकण्डकोत्थंप्रयच्छति।
तत्प्रभूततरंस्थूलशंकुकीलकसम्भवम्।।
दु:खंयच्छतितद्वच्चशिरोरोगादिदु:सहम्।
अपथ्याशनशीतोष्णश्रमतापादिकारकम्।।

—मार्कंडेय पुराण (कर्मफल) १४।२५

पैर में काँटा लगने पर तो एक ही जगह पीड़ा होती है, पर पाप-कर्मों के फल से तो शरीर और मन में निरंतर शूल उत्पन्न होते रहते हैं।

न केचित्प्राणिनः सन्ति ये न यान्ति यमक्षयम्।
अवश्यं हि कृतं कर्म भोक्तव्यं तद्विचार्य्यताम्।।

—शिव पुराण

अपना किया हुआ कर्म सभी को अवश्य ही भोगना पड़ता है। इसलिए ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो यमराज के लोक को नहीं जाता हो। शुभ-अशुभ कर्मों का निर्णय वहाँ पर ही होता है।

आत्मनैव कृतं कर्म ह्यात्मनैवोपभुज्यते।
इह च प्रेत्य वा राजस्त्वया प्राप्तं यथातथम्।।

—महाभारत भीष्म० आ० ७७।४

आत्मा से अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्म, आत्मा से ही अर्थात् स्वयं ही भोगता है। चाहे इस जगह में हो या चाहे परलोक में, स्वयं ही भोगता है।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

—ब्रह्मवैवर्त प्रकृति अ० ३७

बिना भोग के सौ करोड़ कल्प तक भी कर्म का नाश नहीं होता। जो कुछ किया है, उसका फल जरूर भोगना पड़ेगा। इस भोग का कारण कर्तृत्वाभिमान है। जीव अभिमान के वशीभूत होकर सोचता है कि मैं ही कर्ता हूँ, किंतु वास्तव में जीव अकर्ता है।

स्वयमात्मकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
प्राप्ते काले तु तत्कर्म दृश्यते सर्व देहिनाम्।।

—हरि० प० उग्रसेन अभि० २५

संसार के संपूर्ण प्राणियों को अपने कर्म का फल भुगतना ही पड़ता है, चाहे वह शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म हो। शुभ कर्मों का परिणाम सुखद होता है और अशुभ कर्मों का फल दुःखद होता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयंतत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।

—चाणक्य

जीव आप ही कर्म करता है, उनका फल भी आप ही भोगता है, आप ही संसार में भ्रमण करता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है, इसमें उसका कोई साझी नहीं।

तस्मिन् वर्षे नरः पापं कृत्वा धर्म्मंच भो द्विजाः।
अवश्यं फलमाप्नोति अशुभस्य शुभस्य च।।

—ब्रह्म पुराण

मनुष्य पाप कर्म करके तथा धर्म का कर्म करके अवश्य ही फल प्राप्त किया करता है, चाहे वह कोई शुभ कर्म करे, तो उसका अच्छा फल उसे अवश्य मिलता है और चाहे वह अशुभ कर्म करे तो उसका भी वह फल प्राप्त किया करता है।

सुखं वा यदि वा दुःखं यत्किञ्चित् क्रियते परे।
ततस्ततु पुनः पश्चात् सवोत्मनि जायते।।

—दक्ष स्मृति २१

सुख या दुःख के कर्म जो भी दूसरों के लिए किए जाते हैं, कुछ समय बाद में वे सब अपने ही लिए उत्पन्न होते हैं।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते।।
यथा छाया तपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः।।

—म० अनु० प० अ० १।७४-७५

जैसे मिट्टी के पिंड से कर्ता (कुम्हार) जो-जो चाहता है सो करता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किए हुए कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। जैसे छाया एवं धूप नित्य-निरंतर साथ-साथ रहते हैं, वैसे ही कर्म और कर्ता अपने किए कर्मों से बँधे हैं।

शुभानामशुभाना च नेह नाशोस्ति कर्मणाम्।
प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा।
क्षेत्र कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम्।।

—म० आश्वमे० प० अ० १८।५

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता; यथा खेत-खेत को प्राप्त कर पकता जाता है, फल लाता जाता है, इसी प्रकार कर्मों के पाक या फल का भी क्रम चलता रहता है। तदनुसार ही शुभ एवं अशुभ शरीर को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है।

➢ देर है, अंधेर नहीं

कर्म का प्रतिफल मिलने में थोड़ी देर लगने से अधीर लोग आस्था खो बैठते हैं और दुष्कर्म के दंड से बचे रहने की बात सोचने लगते हैं। विलंब के कारण कोई आस्था न खोये, यह चेतावनी देते हुए शास्त्र कहते हैं—

नाधर्मः कारणोपेक्षी कर्तामभिमुञ्चति।
कर्ताखलु यथा कालं ततः समभिपद्यते।।

(महा० शान्ति० अ० २६८)

अधर्म किसी भी कारण की अपेक्षा से कर्ता को नहीं छोड़ता। निश्चय रूप से करने वाला समयानुसार किए कर्म के फल को प्राप्त होता है।८।

अवश्मेव लभते फलं पापस्य कर्मण।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः।।

(बाल्मी० युद्ध० स० १११)

पाप कर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है। हे पते ! समय आने पर कर्ता फल पाता है, इसमें संशय नहीं है।२५।

यदा चरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः।।

(बाल्मी० अरण्य० स० ६३)

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।
घोरं पर्य्यागते काले द्रुमः पुष्पनिवार्तपम्।।

(बाल्मी० अरण्य० स० २६)

हे कल्याणी ! जब भी और जो कुछ भी शुभ-अशुभ करता है करने वाला वही अपने किए हुए कर्मों के फल को प्राप्त होता है।६।

करने वाला अपने पाप कर्मों का फल घोर काल आने पर अवश्य प्राप्त करता है, जैसे कि मौसम आने पर वृक्ष फूलों को प्राप्त होते हैं।८।

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्व कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
तत्कालं नाति वर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम्।।

(महा० अनु० अ० ७)

जैसे हजारों गौओं में से बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है, ऐसे ही पूर्व किया हुआ कर्म कर्ता को प्राप्त होता है। २२।

बिना प्रेरणा के ही जैसे फूल और फल अपने समय का उल्लंघन नहीं करते, वैसे ही पूर्व में किया हुआ कर्म समय का उल्लंघन नहीं करता।२४।

आज का बोया बीज कुछ समय बाद फल देता है—आज का जमाया हुआ दूध कल दही बनता है—आज का आरंभ किया अध्ययन, व्यायाम, व्यवसाय तत्काल फल नहीं देता, उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में कुछ समय लग जाता है। इसी विलंब में मनुष्य की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की परीक्षा है। यदि तत्काल फ़ल मिला करते तो किसी के भले-बुरे का निर्णय करने की आवश्यकता ही न पड़ती। झूठ बोलने वाले का मुँह सूज जाया करता, कुदृष्टि डालने वालों की आँखें दर्द करने लगतीं, चोरी करने वालों के हाथों में गठिया हो जाता, तो फिर कोई व्यक्ति कुकर्म करता ही नहीं। ईश्वर ने मनुष्य के निजी विवेक और कर्म स्वातंत्र्य को कार्यान्वित होते

रहने के लिए कर्म और फल के बीच अंतर रखा है। इस धैर्य परीक्षा में जो असफल रहते हैं, वे सत्कर्मों की सुखद संभावना पर अविश्वास करके उन्हें छोड़ बैठते हैं और कुकर्मों का हाथों हाथ फल न मिलते देखकर उन पर टूट पड़ते हैं। ऐसी ही अदूरदर्शिता के कारण पंछी बहेलिए के जाल में फँसते हैं; वे दाना देखते हैं, फंदा नहीं। आटे के लोभ में मछली अपना गला फँसाती है और बेमौत मारी जाती है। चासनी के लोभ में अंधाधुंध घुस पड़ने वाली मक्खियों के पंख चिपक जाते हैं और तड़पते हुए प्राण जाते हैं। यह अदूरदर्शी प्राणी दुर्गति के शिकार बनते हैं। कर्मफल के अनिश्चित होने की बात सोचकर ही मनुष्य कुमार्ग पर चलते हैं, कुकर्म करते हैं और दुर्दशा के जंजाल में फँसते हैं।

भगवान् ने संसार बनाया और उसके साथ-साथ ही कर्म प्रतिफल का सुनिश्चित संविधान रच दिया। अपनी निज की लीलाओं में भी अपने इस लक्ष्य को प्रकट किया है। भगवान् राम ने बालि को छिपकर तीर मारा, अगली बार कृष्ण बनकर जन्मे राम को उस बहेलिया के तीर का शिकार होना पड़ा, जो पिछले जन्म में बालि था। राम के पिता दशरथ ने श्रवण कुमार को तीर मारा, उसके पिता ने शाप दिया कि वधकर्ता को मेरी तरह ही पुत्र-शोक में बिलख-बिलखकर मरना पड़ेगा। वैसा ही हुआ भी। राम अपने पिता की सहायता न कर सके और उन्हें कर्म का प्रतिफल भुगतना पड़ा।

चक्रव्यूह में फँसकर अभिमन्यु मारा गया, तो उसकी माता सुभद्रा ने अपने भाई कृष्ण से कहा, तुम तो अवतार थे, तो फिर अपने भानजे और अर्जुन सखा के पुत्र को क्यों नहीं बचाया ? कृष्ण ने विस्तारपूर्वक कर्मफल की प्रबलता का वर्णन करते हुए सुभद्रा का समाधान किया कि भगवान् से भी प्रारब्ध बड़ा है। कर्मफल भुगतने की विवशता हर किसी के लिए आवश्यक है।

कर्मफल की सुनिश्चितता का तथ्य ऐसा है, जिसे अकाट्य ही समझना चाहिए। किए हुए भले-बुरे कर्म अपने परिणाम सुख-दुःख के रूप में प्रस्तुत करते रहते हैं। दुःखों से बचना हो तो

दुष्कर्मों से पिंड छुड़ाना चाहिए, सुख पाने की अभिलाषा हो तो सत्कर्म बढ़ाने चाहिए। ईश्वर को प्रसन्न और रुष्ट करना सत्कर्मों एवं दुष्कर्मों के आधार पर ही बन पड़ता है।

➢ कर्मफल—व्यवस्था के प्रति अनास्था ही नास्तिकता

कर्मफल मिलने में विलंब होने के कारण ही सत्कर्मों के प्रति उत्साह शिथिल होता है और दुष्कर्मों के प्रति साहस बढ़ता है। यदि तत्काल कर्मफल मिलने का विधान रहा होता तो फिर किसी को भी अनास्था न होती। चोर के हाथ में लकवा मार जाता—झूठे की जीभ बोलने में असमर्थ हो जाती, कुदृष्टि से देखने वाले अंधे हो जाते, कुमार्गगामियों की चलने-फिरने की शक्ति चली जाती तो षड्यंत्र रचने वाले स्मरण शक्ति खो बैठते, उद्दंडता बरतने पर क्षय जैसे असाध्य रोग घेर लेते तो फिर किसी को भी कुकर्म करने का साहस न होता। इसी प्रकार सज्जनों द्वारा अपनाई गई सत्प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उन्हें अच्छी आरोग्यता, विद्वता, संपदा, सफलता जैसे लाभ तत्काल मिला करते तो फिर किसी को भी धर्म-शिक्षा सुनने या सुनाने की आवश्यकता न रहती। प्रत्यक्ष फल प्राप्त होने की कठोर व्यवस्था बनी रहती, तो फिर अवांछनीय गतिविधियों का कहीं दर्शन न होता। नाम भी सुनाई न पड़ता। फिर न धर्मोपदेशकों की आवश्यकता होती और न शास्त्रों का कोई प्रयोजन रह जाता। पुलिस, कचहरी, कानून, जेल, वकील, गवाह आदि का जंजाल भी कहीं दिखाई ही न पड़ता। जब तत्काल दंड मिलने की व्यवस्था ही चल रही होती, तो फिर अधर्म के उन्मूलन और धर्म के संस्थापन के लिए ईश्वर को अवतार लेने की भी कोई आवश्यकता न पड़ती। सुधारकों और सेवाभावियों का क्षेत्र भी समाप्त हो जाता। उनका उद्देश्य तो विकृतियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन ही तो होता है, पर जब तत्काल ही कर्मफल मिलने की व्यवस्था रहती तो किसी को यह साहस ही न पड़ता कि मर्यादा तोड़े और सन्मार्ग

छोड़े। आग छूने पर जलने की बात प्रत्यक्ष है। फलतः कोई भी जान-बूझकर उसे छूने और जल मरने का प्रयत्न नहीं करता। अनजाने कोई दुर्घटना हो जाए तो बात दूसरी है। ठीक इसी प्रकार अधर्म करने की भी कोई गुंजायश नहीं रहती। ठंडा पानी पीते ही तत्काल प्यास बुझती है, उसी प्रकार यदि सत्प्रवृत्तियों के सत्परिणाम मिला करते तो फिर उनका लाभ छोड़ना उसी तरह संभव न रहता जिस प्रकार भोजन, विश्राम आदि प्रत्यक्ष सुविधाओं की कोई उपेक्षा नहीं करता।

विचारणीय यह है कि यदि कर्मफल सचमुच ही नहीं मिलता है—जैसा कि विलंब लगने के कारण आभास होता है, तो फिर यह स्पष्टीकरण भी साफ होना चाहिए, ताकि या तो सभी लोग अनैतिकता के लाभों को समझकर वैसी ही नीति अपनाएँ। सर्व-साधारण को भी यह अवसर मिले कि कर्मफल जैसी कोई बात ही जब नहीं है तो फिर न्याय, शासन, ईश्वर आदि के सहारे आत्मरक्षा की आशा न करें और अपने बचाव के जो कुछ उपाय संभव हों उन्हें अपनाएँ। इस स्पष्टीकरण से उथल-पुथल तो बहुत मचेगी, पर सच्चाई तो सामने आ ही जाएगी। इससे मनुष्य यथार्थवादी ढंग से सोचने का और परिस्थिति का सामना करने का कोई कारगर रास्ता तो सोचने लगेगा।

किंतु सृष्टि व्यवस्था के बारे में इतनी दूर तक जाने और असमंजस में पड़ने की आवश्यकता है नहीं। इस विश्व का निर्माण-कर्ता बहुत ही दूरदर्शी और व्यवहारकुशल है। उसने इतना बड़ा सृजन किया है। जड़ में हलचल और चेतन में चिंतन की इतनी अद्भुत सत्ता का समावेश किया है कि किसी सूक्ष्मदर्शी को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निर्माण, व्यवस्था और परिवर्तन की जो रीति-नीति उसने निर्मित की है, उसके तारतम्य को देखते हुए मनीषियों ने कला की कल्पना की और विज्ञान की धारणा को मूर्त रूप दिया। ऐसे सर्वसंपन्न स्रष्टा से कर्म व्यवस्था के संबंध में चूक होना—यह सोचना अपनी ही बाल-बुद्धि का खोखलापन दर्शाना है।

जिसकी दुनिया में दिन और रात की, ग्रह-नक्षत्रों के उदय-अस्त की, पदार्थ की प्रकृति और प्राणियों की परंपरा की विधि-व्यवस्था में कहीं राई-रत्ती अंतर नहीं पड़ता—वह कर्मफल को संदेहास्पद बनाकर अराजकता का और आत्मघात का विग्रह खड़ा नहीं कर सकता।

फिर देर से कर्मफल क्यों मिलता है ? इस प्रश्न के कितने ही उत्तर हैं ? पहला तो यही है कि अधिकतर ऐसा होता नहीं है। विलंब होने के अपवाद अधिक नहीं, कम ही दिखाई पड़ते हैं। सामान्य सृष्टि व्यवस्था में, लोक-व्यवहार में अधिकांश कर्मों के फल यथा-समय मिलते रहते हैं। यदि न मिलते तो कृषि, पशुपालन व्यवसाय, शिक्षा, चिकित्सा आदि की जो अनेकानेक उपयोगी गतिविधियाँ चल रही हैं, उनमें से किसी का भी क्रम अनिश्चितता की स्थिति में चल नहीं पाता। परस्पर व्यवहार में भी सज्जनता, दुर्जनता की कोई निश्चित प्रतिक्रिया न होती, तो मनुष्यों के लिए अपने स्वभाव और आचरण को किसी निश्चित ढाँचे में ढालने की आवश्यकता न होती। कार्यों के परिणामों पर विश्वास न होता तो फिर किसी भी योजना की रूपरेखा बन ही न पड़ती। फिर सब कुछ यहाँ अनिश्चित, अविश्वस्त, अस्त-व्यस्त ही दृष्टिगोचर होता। सभ्यता, संस्कृति, नीति, धर्म, न्याय आदि का कोई रूप ही खड़ा नहीं हो सकता था। फिर विज्ञान की शोधों का, आविष्कारों का, क्रिया-प्रक्रिया का कोई तारतम्य ही नहीं बैठ सकता था। पदार्थों में पाई जाने वाली हलचल की एक सर्वांगपूर्ण विधि-व्यवस्था है। उसी की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए भौतिक विज्ञान का ढाँचा खड़ा हुआ है। प्राणियों की इच्छा, विचारणा एवं क्रिया के पीछे भी कुछ प्रकृति-प्रेरणा काम करती है, तालमेल बिठाने वाली व्यवस्था रहती है। जीव विज्ञान, मनोविज्ञान एवं तत्त्वज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं में चेतना के स्वरूप और प्रवाह का ही विवेचन किया जाता है। यह विश्व हर दृष्टि से एक नियति व्यवस्था में बँधा हुआ है। फिर यह हो ही नहीं सकता कि कर्मों का फल न मिले। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख मिलने की बात भी इतनी ही

स्पष्ट है। अपने ही चारों ओर हममें से प्रत्येक को अनेकानेक प्रमाण उदाहरण सहज ही उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रश्न व्यवस्था का नहीं, अपवादों का है। ऐसा कभी-कभी ही होता है। कहीं-कहीं ही देखा जाता है कि अनीति करने वाले फले-फूले हों और नीति को पराभव का मुँह देखना पड़ा हो। यदि यह अपवाद अधिक संख्या में बनते हैं तो उस असंतुलन से सार्वभौम संकट खड़ा होता है। उस संभावना के लिए सुधारकों और देवदूतों की सेना को समय-समय पर महाभारत रचने, समुद्र बाँधने और गोवर्धन उठाने जैसे प्रचंड पुरुषार्थ करने पड़ते हैं।

इतने पर भी यह मानना पड़ेगा कि इन अपवादों का अस्तित्व है और वे देखने को मिलते रहते हैं। वे इतने परिमाण में अवश्य होते हैं कि उतने से भी भ्रम उत्पन्न हो सके। दुष्टता की दिशा में साहस बढ़ सके और सदाशयता के प्रति निराशा उत्पन्न हो सके। विचारणीय तथ्य यही है कि आखिर इतना भी होता क्यों है ?

दृश्यमान् बुराई के पीछे भी कई बार भलाई के तत्त्व छिपे रहते हैं। स्पष्ट है कि हर बीमारी कष्टकारक होती है, पर यह भी स्पष्ट है कि उसके पीछे प्रकृति की परिशोधन अनुकंपा का हाथ रहता है। देह में घुसे हुए विजातीय द्रव्य से जीवनी शक्ति के प्रचंड संघर्ष का नाम ही बीमारी है। यह एक प्रकार की प्रकृति चिकित्सा है। यदि प्रकृति को अपना काम करने दिया जाए और उसके प्रयास में यत्किंचित अनुकूलता बनाई जाए तो उतने भर से रोग ही अच्छे नहीं हो जाते, बल्कि भविष्य के लिए संग्रहीत मलीनता से उत्पन्न होने वाले संकटों से भी छुटकारा मिल जाता है। ठीक इसी प्रकार विलंब से कर्मफल मिलने की बात को प्राणियों में सजगता, प्रखरता और दूरदर्शिता बनाए रहने का एक बहुत बड़ा आधार समझा जा सकता है। यदि इतना व्यतिक्रम न रहता तो प्राणियों को विकास मार्ग पर चलने का अवसर ही न मिलता। सजगता की कोई आवश्यकता ही न रहती। फिर पराक्रम करने की जरूरत ही क्या थी ? चिंतन बहुत ही सामयिक रह जाता। बुद्धिमत्ता का विकास उचित-अनुचित का

लाभ-हानि का विचार करने पर ही होता है। यदि संसार में सब कुछ ठीक-ठाक ही चलता रहता, व्यतिक्रम न होता तो फिर बुद्धि-बल को विकसित करने की आवश्यकता ही न पड़ती। फलतः प्राणी अविकसित स्थिति में ही पड़े रहते। अवांछनीयता के दुष्परिणाम का भय और सत्प्रवृत्ति के सत्परिणामों का लोभ ही है, जो प्राणी को क्रमशः आगे धकेलते और ऊँचा उठाते हुए विकास की वर्तमान सीमा तक घसीट लाया है। प्रतिकूलताओं का, विपत्तियों का भय भी इतना ही बड़ा प्रगति का आधार है, जितना कि सृजन प्रयोजनों में संलग्न होने पर मिलने वाले लाभों का प्रलोभन। दिन का महत्त्व रात्रि के अस्तित्व से ही है। रात न होती तो दिन का आनंद और लाभ ले सकना ही संभव न हो पाता। अवांछनीयताएँ जहाँ कष्ट पहुँचाती और अव्यवस्था फैलाती हैं, वहाँ उनसे एक लाभ भी है कि तुलनात्मक अध्ययन करने का, गुण-दोष समझने का अवसर मिल जाता है। यदि कर्मफल में अपवाद न होते, पराक्रम सुनिश्चित विधि से चल रहा होता तो फिर अनौचित्य अपनाने के लिए कहीं गुंजायश ही नहीं रहती और विग्रह का कोई चिह्न कहीं दिखाई न पड़ता। फलतः सतर्कता और प्रखरता विकसित करने की आवश्यकता ही न होती। जागरूकता और साहसिकता को, दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता को प्रश्रय देने वाला एक बहुत बड़ा आधार नष्ट हो जाता। ऐसी दशा में सरलता और व्यवस्था तो बनी रहती, पर प्रबल पुरुषार्थ के लिए न आवश्यकता पड़ती और न चेष्टा होती। ऐसी दशा में निश्चित रूप से प्रगति-क्रम अवरुद्ध हो जाता और मनुष्य को इस स्तर तक पहुँचने का सौभाग्य न मिलता, जहाँ कि वह इस समय पहुँच सका है। इसमें उसकी सुखेच्छा ही नहीं, उन व्यवधानों को हटाने की अभिलाषा भी है, जो अनौचित्य अपनाने के कारण ही संकट बनकर सामने आते हैं। तुलना करने पर ही भले-बुरे का परिचय मिलता है। तुलना में प्रेरणा मिलती है। अच्छाई की गरिमा जानने के लिए बुराई से उत्पन्न दुर्गति को भी जानना चाहिए। संसार में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों का यह एक लाभ भी है। यों हानियाँ तो उनकी असंख्य ही हैं।

जिस प्रकार अनास्था से आतंकवादी उच्छृंखलता अपनाने का उत्साह मिलता है, ठीक इसी प्रकार उस अनौचित्य को निरस्त करने के लिए देव मानवों को अधिक प्रखरता उत्पन्न करने, संगठित होने और अनाचार से जूझने की अंतःप्रेरणा उभरती है। इन प्रयासों के फलस्वरूप न केवल सत्प्रवृत्तियों की मात्रा और सज्जनों की संख्या ही बढ़ती है, वरन् वह शौर्य, साहस, त्याग, बलिदान भी उमड़ता है, जो मानवीय शालीनता का पक्ष मजबूत करता है और सर्वतोमुखी प्रगति के अनेकानेक आधार खड़े करता है। भूकंप, महामारी, बाढ़, विपत्ति, युद्ध आदि के कारण जो क्षति असंख्यों को होती है, उसे सभी जानते हैं, किंतु उसका एक पक्ष यह भी विचारणीय है कि उन संकटों से अनेकों की करुणा उभरती है—सेवावृत्ति जगती है और परमार्थ में जुट पड़ने के लिए भाव-भरी प्रतिस्पर्धा भी उमड़ पड़ती है। उसे कहते हैं बुराई के पीछे अच्छाई का झांकना।

कर्मफल देर से मिलने के अपवादों की हानियों से इनकार नहीं किया जा सकता। उससे अनास्था उत्पन्न होती है और चरित्र-संकट खड़ा होता है। इतने पर भी उसका किसी रूप में बने रहना इनके सूक्ष्म कारणों से स्रष्टा ने आवश्यक समझा। फलतः उसका नियति-क्रम में एक छोटा-सा अस्तित्व बना हुआ है।

सामान्यतया यह देरी वाली परंपरा भी अपनी नियति-व्यवस्था का एक साधारण क्रम है। समझदार लोग उसकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं और विलंब लगने की बात को स्वाभाविक समझकर अधीर नहीं होते, किंतु कर्मफल में तनिक-सा विलंब होते देखकर मनुष्य न जाने क्यों धीरज खो बैठते हैं और अनास्था के संकट में न जाने कैसे जा फँसते हैं ? आज का दूध कल दही बनता है। अब का बोया बीज कई महीने बाद फसल बनता है। आरोपित किए गए पौधे वृक्ष बनने और फलित होने में कई वर्ष का समय ले जाते हैं। व्यायामशाला में प्रवेश करने और पहलवान बनने के बीच लंबा मध्यांतर रहता है। विद्यार्थी को पाठशाला में प्रवेश पाने के उपरांत स्नातक बनने की सफलता पाने के लिए वर्षों की अध्ययन साधना

करनी पड़ती है। कारखाना खड़ा करने से लेकर लाभ मिलने लगने की प्रक्रिया के बीच समय की काफी लंबाई रहती है। जब हर बड़ा काम समय माँगता है तो कर्मफल मिलने में थोड़ा विलंब लगते देखकर धीरज खो बैठना और यह मान बैठना कि तत्काल परिणाम नहीं मिला तो कभी मिलेगा ही नहीं—बाल-बुद्धि का चिह्न है।

बच्चा अभी कमाता नहीं है, उलटे सेवा और खर्च कराता है तो यह समझ बैठना उचित नहीं कि यह जीवन भर ऐसे ही सेवा कराएगा, कभी कुछ कमाने और घर का उत्तरदायित्व सँभालने लायक न हो सकेगा। साधना आरंभ करने से लेकर सिद्धि तक पहुँचने में समय लगता है। यात्रा आरंभ करने के दिन ही लक्ष्य तक कौन पहुँचता है ? लंबी मंजिल पूरा करने में समय तो लग ही जाता है। मुकदमा चलने से लेकर फैसला होने तक में अदालतें बहुत दिन गुजार देती हैं। कर्मफल मिलने में यदि विलंब लगे तो समझदारी का परिचय देने वाले मनुष्य को यह विश्वास भी रखना चाहिए, कि इस सुनिश्चित सृष्टि व्यवस्था में जो बोया है वही काटना होगा।

स्वर्ग-नरक, दुर्गति, सद्‌गति, मरणोत्तर जीवन, पुनर्जन्म आदि में मनुष्य को मिलने वाले सुख-दुःख यह सिद्ध करते हैं, कि कुछ समय पहले किए कर्म समयानुसार फलित हो रहे हैं और परिपक्व होने के बाद अपने फल दे रहे हैं।

समाज की सुव्यवस्था इस बात पर निर्भर है कि मनुष्यों के बीच पारस्परिक सद्‌भावना और सहकारिता के सूत्र सुदृढ़ बने रहें। सामूहिक प्रगति के पथ पर चलना और सुख-शांति की परिस्थितियाँ बनी रहना इसी वातावरण में संभव हो सकता है। समाज व्यक्तियों का समूह है। व्यक्ति अच्छे रहेंगे तो उनका सम्मिलित समुदाय भी समुन्नत और विकसित दिखाई पड़ेगा। व्यक्ति के सज्जन और सुसंस्कृत बनाए रहने के लिए कर्मफल की सुनिश्चितता का तत्त्वदर्शन हर किसी की आस्थाओं में गहराई तक प्रतिष्ठापित होना चाहिए।

कर्मफल के समर्थन में हजार तर्क, तथ्य और प्रमाण मौजूद हैं, पर उनमें एक ही खामी रहती है कि अपवादस्वरूप कई बार भले

कर्मों का सत्परिणाम और बुरे कर्मों का दुष्परिणाम उत्पन्न होने में विलंब लग जाता है। इस विलंब में ही अदूरदर्शी लोग अपना धैर्य खो बैठते हैं और अनास्था अपना लेते हैं। इसे बाल-बुद्धि की क्षुद्रता और विवेकहीनता का अभिशाप ही कहना चाहिए। यह उतावली जीवन की दिशाधारा को भटका देने का प्रधान कारण बनती देखी गई है। इसलिए इस मनःस्थिति की शास्त्रकारों ने तीव्र भर्त्सना की है। 'नास्तिकता' का मोटा अर्थ ईश्वर को न मानना समझा जाता है और किसी को 'नास्तिक' कहना उसकी सदाशयता पर लांछन लगाना समझा जाता है। विचारणीय है कि ईश्वर को मानने, न मानने से उसके अनुदानों में कोई अंतर नहीं आता। फिर 'नास्तिकता' की इतनी तीव्र भर्त्सना क्यों की गई ? इसकी तात्त्विक विवेचना से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर को न मानने से अभिप्राय वस्तुतः उसकी कर्मफल व्यवस्था के प्रति अनास्था रखना है। पूजा-पाठ करने और ईश्वर के गुणानुवाद गाने पर भी यदि कोई कर्मफल के क्रम को झुठलाता है तो भजन-पूजन करते रहने पर भी उसे नास्तिक ही कहा जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति ईश्वर की चर्चा नहीं करता किंतु कर्मफल का अनुशासन सुनिश्चित मानकर अपनी गतिविधियों को सज्जनोचित रखे रहता है, तो तात्त्विक दृष्टि से उसे आस्तिक कहने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए। 'अस्ति' और 'नास्ति' का मोटा अर्थ ईश्वर 'है' और 'नहीं है' यह समझा जाता है। यह उथला अर्थ है। सच्चा अर्थ है कि कर्म व्यवस्था सुनिश्चित है या नहीं। आस्तिक वह है जो कर्मफल की अकाट्य ईश्वरीय व्यवस्था पर विश्वास करके अपना हित-अनहित निश्चित करता है। ऐसा व्यक्ति बुराई से बचने वाला चरित्रनिष्ठ और उदार परमार्थ-परायण-समाजनिष्ठ ही हो सकता है। पाप से बचकर दुःखों से छूटने और पुण्य अपनाकर सुखी बनने का यही राजमार्ग है।

स्वर्ग-नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया को समझ लेने पर अपने अगले कर्मों को पुण्य, पवित्र, सत और श्रेष्ठ बनाने की स्पष्ट घोषणा प्राप्त होती है।

❑❑

भाग्यवाद की भ्रांत धारणा और प्रारब्ध का यथार्थ

✸

सुख-सुविधा हर किसी को अभीष्ट है। अनुकूल परिस्थितियाँ मिलतीं तो अधिक उपार्जन संभव हो सकता था। दूसरे सहयोग करते, आवश्यक साधन उपलब्ध होते तो संपन्नता और सफलता की कमी न रहती, किंतु प्रयत्न करने पर भी अनुकूलता मिल नहीं पाती। अभीष्ट सफलता पीछे हटती और दूर भागती जाती है तो निराशा से मन खिन्न रहने लगता है। दूसरे लोग अपनी ही योग्यता के थे—अपने जितना ही प्रयत्न करते थे—पर उन्हें उपयुक्त सफलताएँ मिल गईं और वैसे साधन एवं अवसर न मिलने के कारण अपना प्रगति-पथ अवरुद्ध ही बना रहा। परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं ही नहीं, अवसर मिले ही नहीं, साधन जुटे ही नहीं, सहयोग रहा ही नहीं, फिर एकाकी प्रयत्न से भी क्या बनता ? हाथ मलते हुए दुर्भाग्य का रोना रोते हुए मन मसोसकर बैठा रहना पड़ा। समुन्नत परिस्थिति प्राप्त करने के स्वप्न धरे रह गए।

इन निराशाजनक परिस्थितियों में प्रायः मनुष्य का अपने कौशल और पुरुषार्थ की कमी का दोष ही प्रधान होता है। सूक्ति है कि असफलता मिलने पर यही सोचना चाहिए, कि उसे प्राप्त करने के लिए जितने प्रयत्न की आवश्यकता थी उसमें कमी रही। अगली बार दूने उत्साह और साहस के साथ नया प्रयत्न करना चाहिए और बार-बार असफलताएँ आने पर भी पुरुषार्थ तब तक जारी रखना चाहिए, जब तक कि सफलता सामने ही आकर खड़ी न हो जाए। इस प्रकार उत्साहवर्धक परामर्श जनसाधारण को पुरुषार्थ की शक्ति और भविष्य की आशा के प्रति आस्थावान्

बनाए रहने की दृष्टि से उपयुक्त और आवश्यक हैं। ऐसे कथनों का समर्थन ही किया जाना चाहिए। अनवरत श्रम, अथक पुरुषार्थ, अडिग साहस और अविचल धैर्य की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही उत्तम है। लोक शिक्षण की दृष्टि से पुरुषार्थ परायणता का ही समर्थन किया जाना चाहिए। नीतिकारों का यही प्रयत्न भी रहा है। इस प्रकार के प्रतिपादनों की उपयोगिता के संबंध में दो मत हो ही नहीं सकते।

किंतु तात्त्विक दृष्टि से गंभीरतापूर्वक जब तथ्यों पर विचार करते हैं, तो एक दूसरा पक्ष भी उभरकर आता है। वह यह है कि कितने ही लोगों के सामने ऐसे अप्रत्याशित संकट आ खड़े होते हैं, जिनके लिए उन्हें किसी भी प्रकार दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया था, जिससे वह मुसीबत सिर पर टूट पड़ती। दुर्घटनाएँ कौन न्यौत बुलाते हैं ? अनाचारियों के आक्रमण से होने वाली क्षति में किसका क्या दोष होता है ? चोर, उचक्के जिस ढंग से हाथ साफ करते हैं, उसमें सामान्य सजगता की कमी नहीं वरन् कुटिलता के कुचक्र ही प्रधान होते हैं। प्रकृति प्रकोपों की तरह कई बार परिस्थितियाँ अकारण ही इतनी प्रतिकूल हो जाती हैं कि उनमें अपना दोष क्या रहा होगा ? अपनी किस भूल ने यह विपत्ति खड़ी की होगी ? ऐसा बहुत खोजने पर भी कुछ हाथ नहीं लगता और भाग्य का खेल कहकर किसी प्रकार जी हल्का करना पड़ता है।

ऐसे ही अवसाद कई बार प्रगति-प्रयासों के असफल होने के संबंध में भी सामने आते रहते हैं। उसी योग्यता के, उसी मार्ग पर चलने वाले, उसी उपाय का अवलंबन करने वाले दूसरे लोग बाजी पर बाजी जीतते, सफलता पर सफलता पाते चले जाते हैं; पर पूरी ईमानदारी और समझदारी के साथ किए गए अपने प्रयत्न बहुत ही स्वल्प परिणाम दे पाते हैं। कई बार तो बुरी तरह निराशा ही हाथ लगती है। यदि अपनी ही भूल से ऐसा हुआ हो तो वह भूल क्या थी ? यदि थी तो क्या वह जान-बूझ कर की गई ?

इन प्रश्नों पर बहुत ढूँढ़-खोज करने पर भी कुछ ऐसे तथ्य हाथ नहीं लगते, जिन्हें असफलता का कारण ठहराया जाए, भूल माना जाए और भविष्य में उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाए। अनेक बार मनुष्य स्वयं बिल्कुल निर्दोष होता है। परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी विचित्र बन जाती हैं कि सब कुछ किया कराया मिट्टी हो जाता है। अति वृष्टि, पाला, टिड्डी-कीड़े आदि के कारण किसान का तत्परतापूर्वक किया गया श्रम जब निरर्थक चला जाता है, तो उसकी समझ में नहीं आता कि उससे कहाँ क्या भूल हुई ? और वैसी भूल भविष्य में न होने पाए, इसके लिए वह भविष्य में क्या सावधानी बरते ? ऐसे ही अगणित प्रश्न सामने आते रहते हैं, जिनसे पुरुषार्थ की सर्वसमर्थता के पक्ष में प्रस्तुत किए गए प्रतिपादनों की यथार्थता के संबंध में संदेह होने लगता है।

इन्हीं आशंकाओं के मध्य भाग्यवाद का जन्म होता है। कहा जाता है—"मनुष्य नियति के हाथ की कठपुतली है। भाग्य टलता नहीं। विधि का विधान अकाट्य है। जो होनी है, सो होकर रहती है।" इसी प्रकार के और भी बहुत-से कथन तब कहे जाते हैं, जब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, कोई अप्रत्याशित संकट सामने आ खड़े होते हैं अथवा सफलता मिलते-मिलते अपना रुख बदलती और बिजली की तरह आशा की चमक दिखाकर कहीं से कहीं चली जाती है। ऐसा ही तब भी कहा जाता है, जब अंधे के हाथ बटेर लगती है। कितनों को ही ऐसी सफलताएँ हाथ लग जाती हैं, जिसके लिए उनके पुरुषार्थ को श्रेय किसी भी प्रकार नहीं दिया जा सकता। पूर्वजों की बड़ी संपत्ति उत्तराधिकार में मिल जाए तो इसमें प्राप्तिकर्ता का श्रेय क्या है ? लॉटरी खुल जाने जैसी सफलताओं में किस कौशल या पौरुष को सराहा जाए ? तेजी-मंदी के चक्र में कई व्यापारी देखते-देखते दिवालिया होते और देखते-देखते लखपती होते देखे जाते हैं। उसमें किसको मूर्ख और किसको बुद्धिमान् कहा जाए ? नदी की बाढ़ आती है। किसी का खेत काटकर उसकी आजीविका को उदरस्थ कर

जाती है। किसी के ऊपर खेत में कहीं से लाकर ऐसी उपजाऊ मिट्टी पटक दी जाती है, कि वह उसकी पैदावार से देखते-देखते अमीर बन जाता है। नदी द्वारा एक की भूमि को काट ले जाना और दूसरे को समृद्धि का वरदान बरसा जाना। इसे क्या कहा जाए ? इसके लिए दोष या श्रेय किसे दिया जाए ? आँधी-तूफान में जिसका छप्पर उजड़ गया और घर बिगड़ गया, इसमें उसकी क्या भूल बताई जाए ? और भविष्य में क्या सावधानी बरतने का परामर्श दिया जाए ?

यह ठीक है कि यह अपवादों की शृंखला है। सामान्य क्रम नहीं है। फिर भी अपवाद भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। उनका भी कारण खोजना होगा। विशेषतया ऐसी दशा में जबकि वे अत्यधिक परिमाण में आए दिन देखने को मिलते हैं। अत्युक्ति न समझी जाए और पौरुष समर्थकों को बुरा न लगे तो नम्रतापूर्वक दबी जबान से यहाँ तक कहा जा सकता है कि 'भाग्य का खेल' प्रायः ३० प्रतिशत घटनाक्रमों में काम कर रहा होता है। यों महत्ता तो कर्मनिष्ठा की ही रहेगी और खुला समर्थन उसी को दिया जायेगा। पर इन अप्रत्याशित परिणामों के संबंध में भी विचार तो किया ही जाना चाहिए।

विज्ञान कहता है कि—"इस संसार में ऐसा कभी कुछ नहीं हो सकता जो प्रकृति नियम के विपरीत हो।" भूकंप, बिजली गिरना, ज्वालामुखी फटना, तूफान जैसी घटनाएँ सामान्य बुद्धि को आकस्मिक लगती हैं और उनके पीछे विपर्यय दीखता है, पर वस्तुतः ऐसा कुछ होता नहीं है। उनके पीछे भी प्रकृति के सूक्ष्म नियम ही काम करते हैं। यह दूसरी बात है कि उन नियमों की जानकारी सर्वसाधारण को न हो अथवा उस तरह के घटनाक्रम आए दिन घटित न होने के कारण वे आश्चर्यजनक लगते हों। चमत्कार उन्हीं को कहते हैं, जो दृश्य आमतौर से देखने को नहीं मिलते। जब भी विज्ञान के आविष्कार प्रथम बार हुए तो उन्हें भारी चमत्कारों के रूप में देखा गया था। रेल, टेलीफोन, बिजली

रेडियो, सिनेमा आदि पूर्व काल में अप्रचलित आविष्कार जब सामने आए तो सामान्य बुद्धि हतप्रभ रह गई और उसे जादू या भूतदेव की करामात समझा गया। पीछे अब जब विज्ञान और आविष्कारों का सिलसिला समझ में आ गया तो अंतर्ग्रह यात्रा पर निकले यानों, अणु-आयुधों, लेसर किरणों जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धियों तक को साधारण बात मान लिया गया है।

जादू नाम की कोई वस्तु दुनिया में नहीं है। लोगों की आँखों की परख-क्षमता को चकमा दे सकने की सफलता का नाम ही जादूगरी है। अध्यात्म क्षेत्र में सिद्धि-चमत्कारों का वर्णन बहुत होता रहता है। उन्हें देखकर आश्चर्य तो किया जा सकता है, पर ऐसा नहीं माना जा सकता कि यह आकस्मिक है। इनके पीछे प्रकृति की सामान्य नियम-परंपरा का हाथ नहीं है। इसमें अव्यवस्था के लिए रंच मात्र भी गुंजाइश नहीं है। यहाँ ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता, जिसे अप्रत्याशित असंभव या चमत्कारी कहा जा सकेगा। जिसे हम नहीं जानते उस अविज्ञात को ही अपवाद कह सकते हैं। वस्तुतः उन अपवादों के पीछे भी प्रकृति का परिपूर्ण व्यवस्था-क्रम काम कर रहा है। आदि काल में सूर्य, बिजली, आग, वर्षा आदि आँख-मिचौनी खेलने वाले तथ्यों को देवता माना जाता था। उनकी मनौती मनाई और बलि चढ़ाई जाती थी। चंद्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण किन्हीं राक्षसों का आकस्मिक आक्रमण समझा जाता था, पर अब वह बात रही नहीं है। विज्ञान के शोध-निष्कर्षों ने भली प्रकार समझा दिया है कि यहाँ अप्रत्याशित कुछ नहीं । अविज्ञात को ही अपवाद कहते हैं। वस्तुतः इस सृष्टि में अंधेरगर्दी के लिए, व्यतिक्रम के लिए, कहीं रत्ती भर भी गुजांइश नहीं है।

अविज्ञात-अप्रत्याशित को ही अपवाद कहा जाता है। वस्तुतः वहाँ यथार्थवादी का ही अस्तित्व है। अपवाद का अर्थ इतना ही है कि जिस आधार पर वह असामान्य घटनाक्रम उपस्थित हुआ उसकी जानकारी अपने पल्ले नहीं पड़ी है। यों अपवादों का

सिलसिला चलता ही रहेगा, क्योंकि सामान्य व्यवस्था की ही हमें जानकारी है और उसी को देखने-समझने की आदतें भी हैं। सृष्टि के अविज्ञात नियमों के आधार पर जब भी कुछ असामान्य घटित होगा, तभी उसे अपवाद कह दिया जाया करेगा। प्रकृति के रहस्य अनंत हैं और मनुष्य की बुद्धि अत्यंत स्वल्प। ऐसी दशा में असाधारण तो घटित होता ही रहेगा। उचित यही है कि उसके संबंध में हम अपना दृष्टिकोण साफ कर लें। अपनी ससीमता को स्वीकार करें और असमंजस में न पड़कर तथ्यों तक पहुँचने का यथासंभव प्रयत्न करते रहें।

पिछले दिनों एक सस्ता तरीका अपनाया जाता रहा है कि हर अपवाद को देव-दानवों के क्रिया-कृत्य मानकर समाधान कर लिया जाता रहा है। भाग्यवाद भी कुछ इसी प्रकार का दर्शन है, जिसमें देवताओं के द्वारा भाग्य निर्माण की बात कहकर एक विचित्र प्रकार की भ्रांति उत्पन्न कर दी गई है। विचारशील वर्ग में अपवादों को—'चान्स' 'लक' आदि कहा जाता रहा है। उसे 'अप्रत्याशित अवसर' मात्र ठहराया गया है। उसके लिए किसी देवता को श्रेय या दोष नहीं दिया गया है। उसमें अविज्ञात को, अपवाद को मान्यता भर दी गई है और उसका कारण विदित न होने पर उसे किसी देवता का कोप या अनुग्रह कहकर एक नया भ्रम गढ़ने की चेष्टा नहीं की गई है। यह समझदारी का चिह्न है। सर्वज्ञ होने का दावा करना मिथ्या अहंकार है। जो ज्ञात नहीं है उसे जानने के लिए मस्तिष्क खुला रखा जाए और धैर्यपूर्वक रहस्योद्घाटन के सूत्र खोज निकालने का प्रयत्न करते रहा जाए; इसी में बुद्धिमानी है।

भाग्य को देवताओं के साथ, ग्रह-नक्षत्रों के साथ जोड़ना सर्वथा उपहासास्पद है। देवता किसी का भाग्य बुरा लिखें और किसी का भला तो उन्हें विक्षिप्त ही कहा जायेगा। मनुष्य में अधिक न्यायशील और विवेकवान् होने की मान्यता अपनाकर ही तो देवताओं को श्रद्धास्पद माना गया है। यदि भाग्य-लेखन में

चाहे किसी मर्यादा का ध्यान न रखेंगे और चाहे जिसका भाग्य भला और चाहे जिसका बुरा लिखने लगेंगे, तो उनकी वह गरिमा टिकेगी ही नहीं, जिसके कारण उन्हें श्रद्धास्पद और पूजनीय ठहराया गया है। ग्रह-नक्षत्रों की गणना भी ज्योतिषियों ने देवताओं के रूप में की है। इसीलिए तो वे उनकी पूजा-पत्री करते और अनुग्रह माँगते हैं। खगोलवेत्ताओं की तरह यदि वे ग्रहों को निर्जीव पदार्थ पिंड मानते तो उनके प्रभाव का समूची धरती या किसी भूखंड पर उनके किसी व्यापक प्रभाव की परिकल्पना करते और यदि अनुकूलता, प्रतिकूलता की बात सोचते तो उसका आधार इतना ही तो होता कि अंतर्ग्रही आदान-प्रदान को न्यूनाधिक करने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है। इसके विपरीत जब उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता से व्यक्ति विशेष को कष्ट मिलने की मान्यता बनाई गई और पूजा-पत्री से उसका रोष शांत करने एवं अनुकंपा पाने की समझ-समझायी गई, तो स्पष्ट है कि इन देवताओं को खगोल संपदा के स्थान से हटाकर देव संज्ञा दे दी गई। होता भी यही रहा है। ग्रह-नक्षत्रों को देव प्रतिमाओं के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता और पूजा जाता है। देववाद और भाग्यवाद की विसंगति को संगति के रूप में बिठाकर एक अनोखे बुद्धि-कौशल का ही परिचय दिया गया है। इसमें चमत्कार अवश्य है। ग्रह-नक्षत्रों का, देवताओं का न सही, पर इस परिकल्पना को गढ़ने वाली बुद्धि को तो निश्चय ही चमत्कारी कहा जायेगा। इस उद्योग को चलाने वाले और उसके चंगुल में फँसने वालों को भी अपने ढंग के चमत्कारी ही कहा जा सकता है। इतने पर भी यह प्रश्न तो यथास्थान बना ही रहेगा कि यदि यह देवता और ग्रह-नक्षत्र सचमुच ही देवता हैं, तो फिर अकारण किसी को दुःख और किसी को सुख देने की अव्यवस्था क्यों फैलाते हैं ? अपने क्रियाकलाप में अंधेरगर्दी की भरमार क्यों करते हैं ? उनके रोष से विपन्न हुए दुखियारों की हाय, उन पर क्यों नहीं पड़ेगी ? उनके अनुग्रह से संपत्तिवान् लोग कर्म और पुरुषार्थ को अँगूठा

क्यों नहीं दिखाएँगे ? फिर नया एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है कि पूजा-पत्री के छुटपुट उपहार पाकर वे क्यों अपनी गतिविधियों को उलट देते हैं ? पूजा मिलने पर वे दोष को अनुग्रह में बदल देते हैं और न मिलने पर त्रास देते ही रहते हैं। इसका क्या कारण हो सकता है ? पूजा के नाम पर मिलने वाली प्रशंसा और सस्ती उपहार सामग्री मात्र से उनकी नीति और क्रिया में भारी उलट-पुलट कैसे हो जाती है ? कोई पत्थर अँगूठी में पहन लेने से किस कारण कोई ग्रह-नक्षत्र किसी पर अनुग्रह बरसाने लगता है ? आदि ऐसे असंख्य प्रश्न हैं, जो भाग्यवाद की अपवाद स्थिति को स्वीकार करते हुए भी यह समाधान नहीं होने देते कि उस सबके लिए देवताओं का लिखा विधान अथवा ग्रह-नक्षत्रों का रोष अनुग्रह किस कारण हो सकता है ? यदि कोई कारण है तो उसका किस तर्क और तथ्य के आधार पर समर्थन किया जाए ?

देवताओं और ग्रह-नक्षत्रों के अस्तित्व और अनस्तित्व के संबंध में बुद्धिपूर्वक तर्क और तथ्यों के आधार पर बहुत कुछ कहने, सोचने और खोजने की गुंजाइश है। दैवी शक्तियों का मानव-जीवन में कोई विशेष प्रभाव हो सकता है। इसी प्रकार ग्रह-नक्षत्र भी पृथ्वी के पदार्थों और प्राणियों को प्रभावित कर सकते हैं। इन संभावनाओं पर विचार करने के लिए व्यापक शोध क्षेत्र खुला पड़ा है; किंतु इस प्रसंग पर तो गाड़ी एकदम रुक जाती है कि देवता किसी का भाग्य-विधान बिना कारण ऐसे ही मनमर्जी से भला-बुरा लिखते चले जाएँ ? अथवा ग्रह-नक्षत्र किसी पर रोष और अनुग्रह की अकारण वर्षा करते हुए अपने को अनाचारियों की स्थिति में ला पटकें। यदि वस्तुतः वे लोग ऐसे हैं जैसा कि उनके बारे में मूढ़ मान्यताएँ समझाती हैं, तो फिर उनके और हम सबके लिए बड़े दुर्भाग्य और शर्म की बात है। सृष्टि की सुव्यवस्था के सिद्धांत का तो उसमें खुला उल्लंघन और उपहास है ही। ऐसी उपहासास्पद धारणाओं ने ही विचारशील वर्ग में भाग्यवाद के प्रति विरोध और आक्रमण की भूमिका बनाई है।

➢ प्रारब्ध न तो अंधविश्वास है और न अकारण

भाग्यवाद के प्रति विरोध और आक्रोश इसलिए उमड़ पड़ा कि उसके सहारे निहित स्वार्थों ने पाने-खाने के लिए ग्रह-नक्षत्रों को बीच में डालकर अपना एक स्वतंत्र व्यवसाय खड़ा कर लिया। अन्यथा वह एक स्वतंत्र तत्त्वज्ञान समझा जा सकता है और उसके प्रभाव का व्यक्ति के उत्थान-पतन में क्या स्थान रहता है ? इस पर विचार करते हुए वह उपाय खोजा जा सकता है कि अन्य विपत्तियों की तरह उससे भी किस प्रकार जूझा जाए, किस प्रकार कठिनाइयों को सरल करने के अन्य क्षेत्रों में चलने वाले प्रयत्नों की तरह इस दिशा में भी उपाय ढूँढ़ा जाए।

भाग्य के संबंध में कितनी ही लोकोक्तियाँ ऐसी प्रचलित हैं, जो उसके ऊपर पड़े हुए पर्दे को अनायास ही उठा देती हैं। भाग्य को विधि का, विधाता का विधान कहा जाता है। इस लोकोक्ति के शब्दार्थ पर विचार करने से भी तथ्य का आभास मिलता है। विधि कहते हैं—कानून को; विधान कहते हैं—व्यवस्था को। विधि का विधान अर्थात् कानून की व्यवस्था। विधायक निर्माणकर्ता को कहते हैं। विधाता अर्थात् स्रष्टा। स्रष्टा अर्थात् परमेश्वर। परमेश्वर की व्यवस्था अर्थात् विधि का विधान। कानून का नियम कहा जाए अथवा परमेश्वर का—बात एक ही है। उसका तात्पर्य एक ही है—भाग्य अर्थात् वह प्रतिक्रिया जो किसी सुनिश्चित नियम-प्रक्रिया पर आधारित है। इस निर्णय पर पहुँच जाने से वह भ्रम-जंजाल सहज ही कट जाता है, जो भाग्य-व्यवसायियों ने ग्रह-नक्षत्रों की आड़ में रचकर खड़ा कर दिया है और जिसमें दुर्बल मनःस्थिति के लोगों को डराने और लाभ उठाने का कुचक्र चलाया जाता है। बेचारे ग्रह-नक्षत्रों को इस सामान्य सृष्टि-व्यवस्था में घसीटना—उन्हें दोष या श्रेय देना सर्वथा निरर्थक है।

खगोल विद्या—एस्ट्रॉनॉमी एक मान्य विज्ञान है। ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधियों की जानकारी कितनी उपयोगी है, उसे विज्ञ समाज में भली प्रकार जाना-माना गया है। इसकी खोज के लिए अंतरिक्षीय और अंतर्ग्रही खोज-खबर लाने के लिए विज्ञान क्षेत्र में कितने महँगे और कितने प्रबल प्रयास किए जा रहे हैं, यह सर्वविदित है। उससे लाभ भी है। रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन जैसे प्रत्यक्ष और कितने ही परोक्ष लाभ खगोल विद्या की जानकारियों के आधार पर मिलते जा रहे हैं। इस विज्ञान की प्रतिष्ठा रही है और रहेगी, किंतु खगोल विद्या—एस्ट्रॉनॉमी को जब फलित ज्योतिष के रूप में वर्णन किया जाने लगेगा और उससे नए किस्म की भ्रांतियाँ फैलाकर स्वार्थ-साधन का उपक्रम खड़ा किया जायेगा तो बिना संकोच समाज में उसकी भर्त्सना होती ही रहेगी।

भविष्य कथन एक अतींद्रिय क्षमता है। परामनोविज्ञान के आधार पर उसका समर्थन हो रहा है; किंतु यदि जन्म-कुंडलियों को भविष्य कथन के निमित्त एक नए जंजाल के रूप में खड़ा किया जायेगा, तो विज्ञ समाज में उसकी प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं रह सकती। खगोल विज्ञान की तरह भाग्य-विधान को भी विशुद्ध तत्त्वज्ञान के रूप में लिया जाए तो उसका उपयोग भी व्यवहार शास्त्र—कर्म प्रतिफल—व्यवस्था विज्ञान की तरह ही उपयोगी हो सकता है। उसके सहारे विपत्तियों के निराकरण और सुविधाओं के संवर्धन में भारी योगदान मिल सकता है।

अप्रत्याशित और आकस्मिक दुर्घटनाओं के पीछे प्रायः संचित कर्मों का, सामयिक प्रतिक्रिया का एकाएक बरस पड़ना ही कारण होता है। जलाशय से भाप उठती है—सघन होकर बादल बनती है। बादल हवा के साथ इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं—जब वे भारी होकर घटा बनते हैं और परिस्थितियाँ उन्हें नीचे उतरने के लिए विवश करती हैं, तो भूमि के समीप आकर बरसना आरंभ कर देते हैं। भाप उठने के स्थान और भूमि पर बरसने के

स्थान, समय के साथ तुलना की जाए तो दोनों के बीच बहुत दूरी और विसंगति दीखती है। फिर भी जानकारों को यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती है कि एक समय का भाप उठना ही दूसरे समय का घटा बरसना है। मनुष्य के प्रारब्ध कर्म अपने परिपाक का समय बीतने पर जब विपत्ति के रूप में बरसते हैं, तो उनको दुर्भाग्य या दुर्घटना का नाम दिया जाता है। मनुष्य द्वारा पहुँचाई गई हानि को तो शत्रुता, आक्रमण, अत्याचार, प्रतिशोध आदि कहा जा सकता है, पर जिसमें किसी का हाथ नहीं है, जो विपत्तियाँ अप्रत्याशित रूप से बरसीं, उन्हें द्रष्टा की अव्यवस्था न मानना हो तो फिर सुनिश्चित और समाधान कारक उत्तर एक ही हो सकता है—संचित प्रारब्ध कर्मों की प्रतिक्रिया। इसी का प्राचीन ऋषि प्रणीत नाम भाग्य, प्रारब्ध व कर्म-परिपाक आदि है। देखना यह है कि जब अन्य प्रकृति की अन्याय-असामान्य घटनाएँ भी किसी-किसी प्रकृति नियम के अनुसार ही घटित होती हैं तो मनुष्य जीवन में ऐसे अवसर किस कारण से आते हैं, जिनका उसको प्रत्यक्षतः कोई इतना बड़ा दोष दिखाई नहीं पड़ता, जिसके कारण उन संकटों या अवरोधों का त्रास सहन करना पड़ता। प्रगति-क्रम में जब अन्य लोग सहज स्वभाव बढ़ते चलते जाते हैं तो अमुक व्यक्ति को ही क्यों असफलताओं का मुँह ताकना पड़ता है ? यह "भाग्य" किस कारण व्यक्ति विशेष को सताता और उसके प्रगति-पथ को अवरुद्ध करके रख देता है।

तत्त्वदर्शियों की सनातन मान्यता एक ही रही है कि मनुष्य के संचित कर्म ही भले या बुरे भाग्य का रूप धारण करके सामने आते हैं। संचित कर्मों के कालांतर में मिलने वाले परिपाक को ही भाग्य कहा जाता रहा है। साथ के साथ ही अधिकतर कर्मों का फल मिलता और निपटता रहता है। कुछ ही विशेष कर्म ऐसे बचते हैं, जिनके फल उत्पन्न होने में समय लग जाता है। शारीरिक परिश्रम और बुद्धि कौशल के प्रतिफल प्रायः साथ के ही

साथ ही थोड़े-बहुत समय के फेर से मिलते चले जाते हैं। देर उनमें लगती है जो 'नैतिक' होते हैं। पाप और पुण्य ही फलित होने में देर लगाते हैं। हथेली पर सरसों उगाई जा सकती है, जो बोने से दस दिन बाद ही उनके अंकुर छह इंच ऊँचे उग आते हैं, किंतु जिनका जीवन लंबा है, जो चिरस्थायी है—उनके बढ़ने और प्रौढ़ होने में देर लगती है। नारियल की गुठली बो देने पर भी एक वर्ष में अंकुर फोड़ती है और वर्षों में धीरे-धीरे बढ़ती है। बरगद का वृक्ष भी देर लगाता है। जबकि अरंड का पेड़ कुछ ही महीनों में छाया और फल देने लगता है। हाथी जैसे दीर्घजीवी पशु, गिद्ध जैसे पक्षी, ह्वेल जैसे जलचर अपना बचपन बहुत दिन में पूरा करते हैं, जबकि खरगोश जैसे छोटे प्राणी एक वर्ष में ही बच्चे पैदा करने लगते हैं। मक्खी, मच्छरों का बचपन और यौवन बहुत ही जल्दी आता है, पर वे मरते भी उतनी ही जल्दी हैं। शारीरिक और मानसिक परिश्रम का, आहार-विहार का, व्यवहार-शिष्टाचार का प्रतिफल हाथों-हाथ मिलता रहता है। उनकी उपलब्धियाँ सामयिक होती हैं, चिरस्थायी नहीं। स्थायित्व नैतिक कृत्यों में होता है। उनके साथ भाव-संवेदनाएँ और आस्थाएँ जुड़ी होती हैं। जड़ें अंतरंग की गहराई में धँसी रहती हैं, इसलिए उनके भले या बुरे प्रतिफल भी देर में मिलते हैं और लंबी अवधि तक ठहरते हैं। इन कर्मों के फलित होने में प्रायः जन्म-जन्मांतरों जितना समय लग जाता है।

अपनी दृष्टि सामयिक ही होती है। प्रत्यक्ष ही सब कुछ दीखता है। पुण्य और पाप का भला-बुरा प्रतिफल तत्काल न मिलने पर अधीरता और अनास्था उत्पन्न होती है और उस स्थिति में तो एक प्रकार का अंतर्द्वंद्व ही उठ खड़ा होता है, जब संचित कर्मों के प्रतिफल और आज के क्रियाकलाप के मध्य विपरीतता दिखाई पड़ने लगती है। पूर्व जन्म का पुण्य जिन दिनों फलित होकर शुभ परिणाम उत्पन्न कर रहा था, संयोगवश उन्हीं दिनों उस व्यक्ति ने नया दुष्कर्म कर डाला। देखने वालों को यह

भ्रम होता है कि अभी-अभी जो दुष्कर्म किया था, उसका फल इस विशेष लाभ के रूप में सामने आया। कहा जाने लगता है—"कलियुग की ऐसी ही महिमा है। भला करने का बुरा और बुरा करने पर अच्छा फल मिलता है।" इस कथन के प्रतिपादन में उन प्रमाणों को प्रस्तुत कर दिया जाता है, जिसमें अशुभकर्ता को दुष्कर्म करने के दिनों में ही संचित पुण्य फल का लाभ संयोगवश मिल गया था।

ऐसे ही प्रसंग वे होते हैं, जिनमें उस समय अच्छा कर्म करने के दिनों ही किसी संचित अशुभ कर्म का बुरा प्रतिफल कष्ट रूप में सामने आ गया। तब भी ऐसी ही विसंगति बिठा दी जाती है कि अच्छा करने वाले को दुःख भुगतना पड़ता है। यह समय की महिमा है। ऐसी विसंगतियाँ कभी-कभी ही सामने आती हैं, तो भी उतने से भी सामान्य बुद्धि को असमंजस में पड़ने का अवसर मिल ही जाता है। ऐसे ही प्रसंगों को देखते हुए शास्त्रकारों ने कर्म की गति बड़ी गहन बताई है और **"गहना कर्मणो गतिः"** कहकर उसकी जटिलता का संकेत किया।

इन पेचीदगियों के होते हुए संचित कर्म और भाग्य की एकता में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। कल का दूध आज दही के रूप में प्रस्तुत है। उसे संचित कर्म और भाग्य का उदाहरण समझा जा सकता है। शास्त्रकारों ने इस तथ्य को समय-समय पर, स्थान-स्थान पर, उजागर भी किया है। भाग्य के स्थान पर बहुत बार 'कर्म' शब्द का भी उपयोग होता है। 'करम में लिखा था'—' करम रेखा मिटती नहीं'—जैसी लोकोक्तियाँ भी हैं। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' जैसी अर्धालियों में भले-बुरे भोगों के लिए कर्म को ही उत्तरदायी माना है।

कर्म का पूर्व रूप विचार है। विचार को बीज और कर्म को वृक्ष कहा गया है। जैसे विचार होते हैं, वैसे ही प्रयास चल पड़ते हैं और तदनुरूप भली-बुरी परिस्थितियाँ भी सामने आ खड़ी होती हैं। यह तथ्य सर्वविदित है। पर एक पक्ष दूसरा भी है, जो

भाग्यवाद के पक्ष में जाता दीखता है। जैसी भवितव्यता होती है, वैसे कर्म बन पड़ते हैं। कर्मों को जिस रूप में बनना है, वैसे विचार उठेंगे। संचित कर्मों की प्रतिक्रिया इसी रूप में प्रकट होती है। रामायण में एक चौपाई आती है—"काल दंड लै काहू न मारा। हरेउ प्रथम तस बुद्धि विचारा।" संस्कृत में एक सूक्ति है—"देवता लाठी लेकर किसी को नहीं मारते, जिसको दुःख देते हैं, उसकी बुद्धि का अपहरण कर लेते हैं।" दैवी दुर्घटनाएँ तो कभी-कभी ही होती हैं, आसमान से टूटने वाली विपत्तियाँ तो कभी-कभी ही किसी-किसी पर गिरती हैं। आमतौर से मनुष्य ऐसे मार्ग से चल पड़ते हैं, जहाँ उनके लिए विनाश प्रतीक्षा कर रहा होता है। संचित कर्मों के फलस्वरूप जो दंड या पुरस्कार मिलते हैं, उनका पूर्व रूप अंतःकरण के किसी भीतरी कोने में बीज रूप से पनपने लगता है और बढ़ते-बढ़ते वही विपत्ति या संपत्ति की परिस्थितियों के रूप में प्रकट होता है। दैवी वरदान या अभिशाप का यही रूप है। इसमें प्रत्यक्षतः तो दोष कर्ता का ही दीखता है, पर परोक्ष कारण यह होता है कि संचित कर्मों का विष भीतर ही भीतर उफनता है और वह फोड़े के रूप में प्रत्यक्ष होकर कष्ट देता है। पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाली सुविधा-सफलता भी आसमान से नहीं उतरती, वरन् अंतरंग के किसी कोने से सत्प्रवृत्ति बनकर अपनी जड़ जमाती है और उसके अमृत फल श्रेय, यश, सुख, सम्मान आदि की उपलब्धियों के रूप में सामने आ जाते हैं। "दैवेच्छा" शब्द ऐसे ही प्रसंगों के लिए उपयुक्त बैठता है। कई बार न चाहते हुए भी ऐसी भली-बुरी उमंगें भीतर से उठती हैं, जो समझाने-बुझाने से भी नहीं रुकतीं और अपनी प्रेरणा से ऐसा कुछ करा लेती हैं, जो सामान्यतया मनुष्य के मन में पहले से नहीं रहा होता। ऐसी अप्रत्याशित घटनाओं की कमी नहीं होती, जिनकी भूमिका थी नहीं, किंतु अनायास ही आँधी-तूफान की तरह प्रकट हुई और सामान्य परिस्थितियों को तोड़ती, मरोड़ती मनुष्य को

कहीं से कहीं उड़ा ले गई। ऐसी घटनाएँ भले के लिए भी होती देखी गई हैं और बुरे के लिए भी।

भाग्यवाद के समर्थन में भी अगणित घटनाएँ घटित होती रहती हैं। वे अपवाद तो होती हैं, पर इतनी कम मात्रा में नहीं होतीं कि उनकी उपेक्षा की जा सके। उनका तथ्य-कारण जानने के लिए ग्रह-नक्षत्रों पर दोषारोपण करने या देवताओं को घसीटने, बदनाम करने की आवश्यकता नहीं है। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के संचित कर्म—प्रारब्ध बनकर प्रकट हुए और उन्होंने निश्चित परिणाम तक पहुँचाने के लिए भीतर उमंगें उठाने से लेकर बाहर साधन बनाने तक के अनेकानेक आधार परोक्ष रूप से खड़े कर दिए।

निदान सही हो जाने पर रोग की चिकित्सा सरल हो जाती है और बिना भटके उचित उपचार का सही लाभ मिल जाता है। प्रत्यक्ष कर्मों का तरह संचित कर्मों का स्वरूप समझ लिया जाए तो फिर भाग्यवाद और कर्मवाद के बीच जो विरोधाभास है, उसकी आवश्यकता न रहेगी। तब किसी ग्रह-नक्षत्र की मनुहार किए बिना अपने पैर में अपनी ही भूल से चुभे हुए काँटे को निकालने का दूरदर्शितापूर्ण प्रयत्न आरंभ करना होगा। जिस प्रकार अपनी ही भूल से संकट उपजते हैं, उसी प्रकार अपनी ही समझदारी से उनका निराकरण भी किया जा सकता है। समस्याएँ खड़ी करने और गुत्थी उलझाने का दोष भी मनुष्य ही करता है, पर यदि वह सँभलने और बदलने पर तैयार हो जाए, तो उन्हें सुलझाने में भी सफल हो सकता है। अपने ही अनाचरण से रोग उत्पन्न होते हैं, पर उस कुमार्गगामिता को छोड़कर यदि पथ्य बरतने और उपचार करने पर उतारू हो सका जाए तो उन रोगों से छुटकारा पाने का भी आधार बन जाता है। विग्रह खड़ा करने वाले यदि चाहें तो संधि भी कर सकते हैं। अशांति के उत्पन्नकर्ताओं के लिए यह भी संभव है कि वे शांति के लिए नए

सिरे से प्रयत्न करें और अपनी सूझ-बूझ के सहारे उनमें सफल होकर रहें।

संचित कर्म अपना निज का उपार्जन एवं संग्रह है। इसमें हेर-फेर करना अपने काबू से बाहर की बात नहीं है। कर्म का फल निश्चित है, पर उसकी दिशाधारा मोड़ी जा सकती है। उनका निराकरण और समाधान भी हो सकता है। विष खा लेने पर भी जब उपचार द्वारा मरण संकट से बचाव हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि प्रारब्धजन्य संभावनाओं मे सुधार एवं हेर-फेर न हो सके। अशुभ प्रारब्ध के द्वारा उत्पन्न होने वाली विषम संभावनाओं का निराकरण संभव है। कर्जदारों को किस्तों में ऋण चुकाने के लिए सहमत किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि अपने ही कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली संभावित विपत्तियों से प्रयत्नपूर्वक छूटा न जा सके। प्रारब्ध कर्मों का फल-भोग निश्चित होने पर भी उसके निवारण और निराकरण के उपाय हो सकते हैं। उन उपायों को अपनाया जा सकता है और प्रारब्ध के अनिष्ट फलों से बचा जा सकता है।

अनिष्टों से बचने के उपायों की यह व्यवस्था सस्ती और उलजलूल नहीं, सुसंबद्ध, न्यायोचित तथा वैज्ञानिक ही हो सकती है। न तो संकट किसी के आकस्मिक प्रकोप से उत्पन्न होते हैं और न ही उनका निवारण किन्हीं चित्र-विचित्र चिह्न-पूजा दान-अर्पण आदि मात्र से हो जाता है। आकस्मिक कष्टों-विपत्तियों की भी सही पृष्ठभूमि को समझने पर ही उनसे मुक्ति हो सकती है। भाग्यवाद की भ्रांत धारणाओं से मुक्त हुए बिना प्रारब्ध के सही स्वरूप को समझना संभव नहीं है। यह जानना आवश्यक है कि प्रारब्ध का निर्माण कोई देवता, ग्रह-नक्षत्र आदि नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही करता है। भाग्य का परिणाम मनुष्य को मिलता है, पर उस भाग्य के अच्छे-बुरे कैसे भी रूप का निर्माता स्वयं मनुष्य ही है।

❑ ❑

स्वर्ग-नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया

✸

शरीर से असमर्थों, दुर्बलों और रुग्णों की ही तरह मानसिक पिछड़ेपन और विकारग्रस्तता के दलदल में धँसे हुए लोगों का ही बाहुल्य अपने समाज में दृष्टिगोचर होता है। यह विक्षिप्तता भी एक प्रकार की बीमारी ही है, जिसमें प्राणियों को तिरस्कार, अभाव एवं चित्र-विचित्र प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं।

विचारणीय है कि यह सब होता क्यों है ? मनुष्य का प्रत्यक्ष कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता। जान-बूझकर ऐसा कुछ किया हो— जिससे उन शारीरिक व्याधियों और मानसिक आधियों का दुःख सहना पड़े, ऐसा कुछ सूझ नहीं पड़ता। फिर ईश्वर ने ऐसी विचित्र संरचना क्यों की ? किसी को ऐसा-किसी को वैसा क्यों बनाया ? इसका भी कोई उत्तर नहीं हो सकता ? ईश्वर न तो अन्यायी है, न उसकी सृष्टि में अंधेरगर्दी, अव्यवस्था है; दूसरी और इन व्याधिग्रस्त लोगों का ऐसा कोई प्रत्यक्ष कसूर भी नहीं दीख पड़ता, जिसका दंड भुगतने जैसी बातें कही जा सकें।

इस असमंजस का समाधान मनः शास्त्र के आचार्य एक ही शोध निष्कर्ष के आधार पर देते हैं कि अनैतिक एवं असामाजिक चिंतन और कर्तृत्व से मनःक्षेत्र में उत्पन्न होने वाला अंतर्द्वंद्व दुहरा व्यक्तित्व रच देता है और उससे निरंतर उठने वाली आंतरिक कलह सारी मनोभूमि को क्षत-विक्षत करके रख देती है। संचालक के आहत, घायल, उद्विग्न होने पर उसके अधीन काम करने वाले तंत्र की दुर्दशा होना स्वाभाविक है। शरीर के अनाचार और मस्तिष्क के मनोविकार ही वे कारण हैं, जिनके कारण आत्म-सत्ता का स्वसंचालित तंत्र अनेकानेक प्रकार के आत्मदंडों की व्यवस्था अपने आप ही कर लेता है।

नरक का अधिपति पुराणों में चित्रगुप्त को कहा गया है। वर्णन है कि इन चित्रगुप्त के बहीखातों में मनुष्य के सभी कर्म निरंतर लिखे जाते रहते हैं। उन अभिलेखों के आधार पर भगवान् चित्रगुप्त प्रत्येक प्राणी के लिए दंड पुरस्कार की व्यवस्था करते हैं। यह चित्रगुप्त विज्ञान की विवेचना के अनुसार अचेतन मन ही है, जिसकी अत्यंत संवेदनशील कोशाओं के ऊपर मनुष्य के भले-बुरे कर्म टैपरिकार्डर के फीते अथवा फोटोग्राफी की प्लेट की तरह अंकित होते रहते हैं। समयानुसार वे प्रकट एवं फलित होते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया का परिचय शारीरिक एवं मानसिक रोगों के रूप में सामने आता है। इन दो व्यथाओं के साथ तीसरी एक और भी अनायास ही जुड़ जाती है, वह है सामान्य जीवन में पग-पग पर असफलता।

गंगा और यमुना दो के संगम पर एक तीसरी सरस्वती कहीं पाताल में से अनायास ही प्रकट होकर उस समागम के स्थान पर आ धँसी हैं। ठीक इसी तरह शारीरिक व्याधियाँ और मानसिक आधियाँ जिसे घेरे हुए हैं, उस विकृत मस्तिष्क और अस्वस्थ शरीर के द्वारा न कुछ उपयुक्त सोचते बन पड़ेगा और न उचित कर सकना संभव होगा। अतएव अपनी अटपटी कानी-कुबड़ी गतिविधियाँ किसी महत्त्वपूर्ण सफलता तक पहुँचने ही न देंगी और संबंधित व्यक्ति उस बेतुके व्यक्ति से खिंचते-खीजते रहेंगे। फलतः सच्चे सहयोग से भी प्रायः वंचित ही रहना पड़ेगा। मतभेद बढ़ते-बढ़ते शत्रुता और विग्रह तक जा पहुँचते हैं और आक्रमण, प्रत्याक्रमण के कुचक्र में ऐसे व्यक्ति को भारी घाटा उठाना पड़ता है। प्रगति पथ तो प्रायः अवरुद्ध ही बना रहता है। यह नई विपत्ति-शारीरिक और मानसिक रुग्णता की ही देन है। दो रंगों के मिलने से तीसरा एक और नया रंग प्रकट हो जाता है। आधि और व्याधिग्रस्तों को अवरोध और असफलता का तीसरा संकट अतिरिक्त रूप से सहन करना पड़ता है।

शारीरिक रोग, मानसिक उद्वेग और सफलता के अवरोध का त्रिविध समन्वय कितना कष्टकर और संतापदायक होता है उसे भुक्तभोगी ही जानता है। जिन्हें इन संकटों का त्रास सहना पड़ता है, उनके लिए इस विपन्नता का प्रत्यक्ष नरक के रूप में ही अनुभव होता है। यमलोक के अधिपति चित्रगुप्त को अचेतन मन ही समझा जाना चाहिए। उनका कार्य क्षेत्र यमलोक वह मनःसंस्थान ही है, जिसमें प्रतिफल को परिणत कर सकने की ईश्वर-प्रदत्त क्षमता मौजूद है। नियंत्रण-व्यवस्था एवं अनुशासन को ही यम कहते हैं। अतः उस व्यवस्था का केंद्रस्थल मस्तिष्क ही यमलोक है तथा मस्तिष्क की मूलभूत सत्ता चित्त है—चित्रगुप्त। ईश्वर ने सर्वत्र स्वसंचालित-व्यवस्था रखी है, ताकि न्याय-व्यवस्था की अलग से अतिरिक्त झंझट न उठानी पड़े। अपनी ही सत्ता का एक पक्ष कर्म करता है, दूसरा उसका प्रतिफल गढ़कर तैयार कर लेता है। बाहर के न्यायाधीश को भ्रम में डाला जा सकता है, पर अंतस् में बैठे द्रष्टा की निष्पक्ष न्यायशीलता कभी भी विचलित नहीं हो सकती। स्वयं के पुण्य ही उत्कर्ष-उल्लास के तथा स्वयं के पाप ही शोक-संताप के नए-नए अवसर सामने लाते रहते हैं।

भगवान् किसी को न तो दंड देता है और न पुरस्कार। वह केवल विधि व्यवस्था का विधायक और नियंता मात्र है। वह सृष्टि की क्रमबद्धता और समस्वरूपता को बनाए रखने भर का ध्यान रखता है। व्यक्तिगत जीवन में उसका हस्तक्षेप नहीं के बराबर है। हर किसी को उसने यह पूरी आजादी दी है कि जो चाहे जिस तरह सोचे या करे। साथ ही विवेक का अनुदान देकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि चिंतन का, कर्तृत्व का स्तर ही उसके सामने दंड-पुरस्कार के रूप में सामने आएगा। स्वतंत्रता दिशा अपनाने भर की है, पर जो कंटीले मार्ग पर चलेगा वह चुभन से बच न सकेगा, यह तथ्य भी पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया। धर्मशास्त्र, तत्त्वदर्शन और प्रमाण-उदाहरणों से भरा इतिहास इसी यथार्थता को पग-पग पर प्रतिपादित करते रहे हैं।

घृणित कर्म करने वाले आप ही अपने को दंड देते हैं और सन्मार्ग पर चलने वाले अपनी गतिविधियों के कारण स्वयं ही पुरस्कृत होते हैं। अनादि काल से यही स्वसंचालित क्रिया-प्रतिक्रिया की सुसंबद्ध शृंखला अपनी गति से चल रही है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि कुमार्ग पर चलने वाले सुख-शांति से रहें और सन्मार्ग अपनाने वालों को दुःख-दारिद्र्य से ग्रसित रहना पड़े। यदि ऐसा होता तो यहाँ उचित-अनुचित के बीच कोई भेद ही न रह जाता और कोई कुकर्म से बचने एवं सत्कर्म अपनाने के लिए तैयार ही न होता। अधर्म का तात्कालिक आकर्षण यदि चिरस्थायी लाभ दे सका होता और उसके दुष्परिणाम की कोई आशंका न होती तो कदाचित् ही कोई व्यक्ति अधर्माचरण को अपनी प्रधान नीति बनाने से चूकता; तब शायद ही किसी को धर्ममार्ग अपनाने का उत्साह उत्पन्न होता और कदाचित् ही कोई उस कष्टसाध्य प्रतीत होने वाली प्रक्रिया को अपनाता।

ईश्वर ने मनुष्य को जितना स्वावलंबी बनाया है उतना ही परावलंबी भी। सर्व तंत्र-स्वतंत्र मनुष्य नहीं ईश्वर ही है। ईश्वर इसलिए स्वतंत्र है कि उसने नियम व्यवस्था बनाई है और उसने सर्वप्रथम अपने को बाँधा है। जहाँ विश्व का कण-कण किसी विधान से बँधा है, उसी प्रकार ईश्वर भी मर्यादा पुरुषोत्तम है। मर्यादाएँ टूटने न पाएँ, उन्हें तोड़ने का कोई दुस्साहस न करे, इसलिए उसने अपने को भी प्रतिबंधित किया है। पात्रता की मर्यादा से अधिक अनुदान किसी को नहीं मिलते। कर्मफल की मर्यादा का उल्लंघन करके वह न तो किसी को क्षमा प्रदान करता है और न किसी को भक्त-अभक्त होने के नाम पर राग, द्वेष की नीति अपनाता है। न्याय और निष्पक्षता की रक्षा उसके लिए प्रधान है। बिजली मनुष्य की बहुत सेवा-सहायता करती है—पर करती तभी तक है जब तक उसे विधिपूर्वक प्रयुक्त किया जाता है। अविधिपूर्वक व्यवहार करने पर यज्ञाग्नि भी होता को जला सकती है। प्रचुर खर्च करके बिजली के यंत्रों को सुसज्जा एवं

मनोयोगपूर्वक लगाने वाले भी यदि प्रयोगों में प्रमाद बरतें तो वह प्रतिष्ठापित विद्युत् यंत्र प्रयोक्ता के प्राण लिए बिना न छोड़ेंगे। ईश्वर को कर्मफल की शृंखला में अग्नि या विद्युत् के समतुल्य माना जाए, तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

जन्मजात अपंग, बाधित, असमर्थ, मूढ़, रुग्ण व्यक्तियों को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उद्धत आचरण करने वालों के प्रगति-साधनों का प्रकृति ने किस प्रकार अपहरण कर लिया। बंदूक का दुरुपयोग करने वालों का लाइसैंस जब्त हो जाता है, इसी प्रकार मोटर चलाने में प्रमाद बरतने वालों का लाइसैंस छिन जाता है। अपराधियों को न्यायालय में समाज से पृथक् रहने का यातनापूर्ण कारावास मिलता है और उनके नागरिक अधिकार छिन जाते हैं। जन्मजात बाधितों को देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि मिली हुई कर्म-स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने वालों से प्रकृति किस प्रकार प्रतिशोध लेती है ?

सुविधाजनक प्रगतिशील वातावरण में, सुसंस्कारी परिवार में जन्म होना पूर्वकृत सत्कर्मों का फल कहा जा सकता है। दुर्भागी व्यक्ति कुसंस्कारी परिस्थितियों में जन्म लेकर असुविधाजनक अड़चन भरे वातावरण में रहते हैं और प्रगति पथ पर बढ़ने में भारी अड़चन अनुभव करते हैं। इस विभेद के पीछे पूर्व जन्मों में संग्रहीत शुभ-अशुभ कर्म के परिणाम झाँकते देख सकते हैं। यों इन अड़चन भरी परिस्थितियों में भी सत्कर्म करने की, आगे बढ़ने की स्वतंत्रता अक्षुण्ण रहती है और कोई चाहे तो नियत अवरोधों को सहन करते हुए भी आगे बढ़ने, ऊँचे उठने में सफल हो सकता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जिनमें अंधे, अपंग, मूक, बधिर जैसी विषमताओं से ग्रसित लोगों ने इतनी उन्नति कर ली, जिसे देखकर सर्वसुविधा संपन्न व्यक्तियों को भी आश्चर्यचकित रहना पड़ा।

यदि इस संसार में ऐसी व्यवस्था रही होती कि तत्काल कर्मफल मिला करता तो फिर मानवी विवेक एवं चेतना की,

दूरदर्शिता की विशेषता कुंठित-अवरुद्ध हो जाती। यदि झूठ बोलते ही जीभ में छाले पड़ जाएँ, चोरी करते ही हाथ में दर्द उठ खड़ा हो, व्यभिचार करते ही बुखार आ जाए, छल करने वाले को लकवा मार जाए तो फिर किसी के लिए भी दुष्कर्म कर सकना संभव न होता। एक ही निर्जीव रास्ता चलने के लिए शेष रह जाता। ऐसी दशा में स्वतंत्र चेतना का उपयोग करने की, भले और बुरे में से एक को चुनने की विचारशीलता नष्ट हो जाती और विवेचना, ऊहापोह का बुद्धि प्रयोग संभव न रहता। तब दूरदर्शिता और विवेकशीलता की क्या आवश्यकता रहती और इसके अभाव में मनुष्य की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का कोई उपयोग ही न हो पाता। बुरे कार्य के दुष्परिणाम और भले कार्य के सत्परिणाम समझने के लिए अंतःप्रेरणा, अध्यात्म, तत्त्वदर्शन, धर्म-विज्ञान, नीति-सदाचरण, श्रेय-साधना का जो उपयोगी एवं आकर्षक सतोगुणी धर्म कलेवर खड़ा किया गया है, उसकी कुछ आवश्यकता ही न रहती। सब कुछ नीरस हो जाता, यहाँ जो कौतुक-कौतूहल दीख रहा है, बहुरंगी, कटु, मधुर अभिव्यंजनाएँ सामने आ रही हैं, उनमें कहीं कुछ भी दृष्टिगोचर न होता। इन परिस्थितियों में और कुछ लाभ भले ही होता पर मनुष्य की वह चेतनात्मक प्रतिभा कुंठित ही रह जाती, जिसके कारण प्रगति पथ पर इतना आगे तक चल सकना संभव हो सका है।

कर्म का फल शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से कुछ विलंब से भी मिल सकता है, पर आंतरिक दृष्टि से तुरंत-तत्काल मिलता है। सद्भावनाएँ धारण करने वाला अंतःकरण अपने आप में अत्यधिक प्रफुल्लित रहता है। सुगंध विक्रेता बिना प्रयास किए निरंतर उस महक का लाभ उठाता रहता है, जिसके लिए दूसरे लोग तरसते-ललचाते रहते हैं। सत्कर्म का सबसे बहुमूल्य लाभ आत्म संतोष है, जिसे प्राप्त करने में तनिक भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। सन्मार्ग पर चलने वाले का अंतरात्मा अपने आप को प्रोत्साहन भरा आशीर्वाद देता रहता है। इस आधार पर बढ़ता

हुआ आत्मबल मनुष्य की वास्तविक शक्ति को इतना अधिक बढ़ा देता है, जिसकी तुलना उपनिषद्‌कार की उक्ति के अनुसार हजार हाथियों के बल से भी नहीं की जा सकती।

सद्‌भाव संपन्न सन्मार्गगामी का कोई स्वार्थवश कितना ही विरोधी क्यों न हो, पर भीतर ही भीतर उसके लिए गहन श्रद्धा धारण किए रहेगा। महात्मा गाँधी पर आक्रमण करने वाले गोडसे ने गोली दागने से पूर्व उनके चरणस्पर्श करके प्रणाम किया था। ईसा मसीह को क्रूस पर चढ़ाने वाले लोग आँसुओं की धार से अपनी श्रद्धांजलि चढ़ा रहे थे। सुकरात को विष पिलाने वाले जल्लाद ने आत्म-प्रताड़ना से अपना माथा पीट लिया था।

महामानवों के पास भौतिक संपदाएँ भले ही न रही हों, पर उनकी चरित्रनिष्ठा, आदर्शवादिता और उदारता की पूँजी इतनी प्रचुर मात्रा में उन्हें विभूतिवान् बनाए रही है और वह वैभव इतना बढ़ रहा है, जिसके ऊपर धन-कुबेरों की संपन्नता को निछावर किया जा सके। ऋषियों के चरणों में राजमुकुट रखे देखकर यह समझा जा सकता है कि सन्मार्गगामी सर्वथा निर्धन नहीं होते, उनके पास अपने ढंग की ऐसी संपदा होती है, जिसे पाकर मानव जीवन को सब प्रकार सार्थक एवं धन्य हुआ माना जा सके।

भौतिकविज्ञानियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि शारीरिक स्वास्थ्य का आधार मात्र पौष्टिक आहार एवं व्यायाम नहीं है वरन् मनःक्षेत्र की समस्वरता पर आरोग्य एवं दीर्घ जीवन की नींव रखी हुई है। इसी प्रकार मस्तिष्कीय रोगों के विशेषज्ञ यह कहते हैं कि अधिक मानसिक श्रम करने आदि के कारण वे रोग उत्पन्न नहीं होते वरन् छल, प्रपंच, क्रूरता, दुराचरण जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ ही मनः संस्थान में अंतर्द्वंद्व मचाती हैं और उन्हीं के फलस्वरूप अनिद्रा एवं सनक से लेकर उन्माद तक रोग अपने विभिन्न आकार-प्रकार से उठ खड़े होते हैं। कोई समय था जब वात-पित्त-कफ, आहार-विहार कृमि, कीटाणु, छूत-संक्रमण, ऋतु प्रभाव, गृहदशा, भाग्य-प्रारब्ध आदि को विभिन्न रोगों का कारण माना जाता था। वे बातें पुरानी हो गईं।

मनःशास्त्र के विज्ञानी अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अनैतिक, असामाजिक और अवांछनीय चिंतन से इस प्रकार की घुटन से भरा आंतरिक विग्रह उत्पन्न होता है, जो ज्ञान-तंतुओं के माध्यम से अपने विद्रोह को कोशिकाओं तक पहुँचा कर उन्हें रुग्ण कर देता है। इस मानसिक विद्रोह को शांत करने के लिए अपनी रीति-नीति को सन्मार्गगामी बना लेना ही रोग-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। इस आधार पर मनोविज्ञानवेत्ता रोगियों से उनकी भूलें कबूल कराते हैं, पश्चात्ताप और परिवर्तन के संकल्प कराते हैं, तदनुसार रोग निवृत्ति का लाभ भी मिलता है।

भारतीय धर्मशास्त्र आधि और व्याधि का अन्योन्याश्रय संबंध मानता रहा है। आधि अर्थात् मनःक्षेत्र की दुष्प्रवृत्तियाँ जिस व्यक्ति में भरी होंगी, वह शरीर और मस्तिष्क के रोगों से ग्रसित होता चला जाएगा और वे रोग औषधि-चिकित्सा से कदापि अच्छे न हो सकेंगे। कष्ट साध्य रोगों की एक श्रेणी कर्मजन्य भी होती है, उन्हें अंतःक्षेत्र में जमी हुई दुर्भावनाओं की प्रतिक्रिया ही कह सकते हैं। इन्हें प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप द्वारा उखाड़ने का विधान है। असाध्य महारोगों के लिए यह प्रायश्चित्त चिकित्सा प्राचीन अध्यात्म विज्ञान और भौतिक मनोविज्ञान के आधार पर समान रूप से उपयुक्त मानी गई है। मन की निर्मलता से बढ़कर शारीरिक रोगों की निवृत्ति का और कोई कारगर उपाय नहीं है।

निश्चित रूप से मनुष्य एक स्वसंचालित यंत्र है, जो कर्म करने में स्वतंत्र होते हुए परिणाम भोगने की श्रृंखला में मजबूती के साथ जकड़ा हुआ है। यदि हम सद्भावनाओं का, सत्प्रवृत्तियों का, चिंतन और कर्तृत्व अपनाएँ, तो सहज ही सुख-शांति की परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकते हैं। इसके प्रतिकूल चलना अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की तरह है। सुख और दुःख ईश्वर प्रदत्त दंड-पुरस्कार नहीं वरन् अपने ही सत्कर्म-दुष्कर्म के प्रतिफल हैं।

मनुष्य को जहाँ इच्छापूर्वक भले-बुरे कर्म करने की स्वतंत्रता मिली है, वहाँ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने और परिणाम प्रस्तुत

करने की स्वसंचालित प्रक्रिया भी साथ ही जोड दी गई है। समस्त सृष्टि में यही हो रहा है। बीज जमीन में बोया जाता है, खाद, पानी मिलते ही वह अंकुरित होता है और पौधा वृक्ष बनने लगता है। ईश्वर सर्वत्र समाया हुआ है इसलिए यह कार्य ईश्वर करता है, यों कहने में भी हर्ज नहीं है; पर ईश्वर भी इतना झंझट कहाँ तक सिर पर लादता, उसने स्वसंचालित प्रक्रिया बनाकर अपना कर्मफल संबंधी प्रयोजन सरल कर लिया है।

चक्की में ऊपर से अनाज डालते हैं, नीचे आटा निकलता जाता है। कोल्हू में ऊपर से सरसों डालते ही तेल टपकता रहता है। मोटर में मीटर लगा रहता है और वह बताता रहता है कि कितने मील चल लिए ? यह स्वसंचालित मशीनों का जमाना है, बड़े-बड़े प्रिंटिग प्रेस घंटे में हजारों कागज इसी आधार पर छापते हैं। एक बार मशीन चला दी, फिर सारा काम अपने आप ये मशीनें करती रहती हैं। इधर माल डाला जाता रहता है और उधर से तैयार बनकर निकलता रहता है।

कर्मफल की प्रक्रिया भी इसी तरह की है। बुरे कर्म के दुःखद परिणाम जिन्हें नरक कहते हैं, निश्चित रूप से मिलते हैं और भले कर्मों का सत्परिणाम जिन्हें स्वर्ग कहा जाता है, मिलना भी उतना ही सुनिश्चित है। यह स्वसंचालित ढंग से होता रहता है। शरीर अपने कर्मफल की व्यवस्था स्वयं कर लेता है। बैठे रहिए, तोंद बढ़ जायेगी और चलना-फिरना कठिन एवं अपच, दिल की धड़कन आदि कितने ही कष्टकर रोग घेर लेंगे। श्रम करना धर्म है और हरामखोरी—पसीना न बहाना अधर्म। शारीरिक पाप किया बैठे रहने का, उसका फल मोटापे के साथ जुड़े हुए कष्टों के रूप में सामने आ गया। अधिक खाया—पेट में दर्द—रात भर जगे—सिर में दर्द, नशा पिया बदहोशी, जहर खाया—मौत, स्नान करने में आलस्य—बदबू, जुँऐ, खाज। नियमित व्यायाम—पहलवान, पथ्य परहेज—निरोगता, यह दंड पुरस्कार की व्यवस्था शरीर अपने आप ही किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना स्वतः ही कर लेता है। कर्म करने की अपनी

इच्छा—फल देने की उस स्वसंचालित—ईश्वरीय सत्ता की इच्छा, दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। कर्म कर लें और उसके फल से बचे रहें, यह नहीं हो सकता।

आलसी दरिद्र रहते हैं, प्रमादी के लिए प्रगति के द्वार बंद हो जाते हैं, क्रोधी शत्रुओं से घिर जाता है, धूर्त मित्रों से वंचित हो जाता है, बेईमान के सहयोगी बिछुड़ जाते हैं, उद्दंड को घृणा मिलती है, अपव्ययी ऋणी बनता है। यह दंड व्यवस्था हर किसी को पग-पग पर अनुभव होती है। श्रेष्ठ गुण, श्रेष्ठ स्वभाव और श्रेष्ठ कर्म करते हुए मनुष्य सम्मानित, यशस्वी, सहयोग संपन्न, समृद्ध-सफल बनता है और उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचता है। स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को सुखी बनाता है। यह कर्मफल की—स्वर्ग-नरक प्रक्रिया निरंतर सामने रहती है। पापी, दुष्ट, दुरात्मा राजदंड भुगतते हैं, घृणास्पद बनते हैं और स्नेह-सहयोग से वंचित होकर मरघट के प्रेत-पिशाच बने एकाकी घूमते हैं। यह घृणित जीवन नरक नहीं है तो और क्या है ? सेवा-भावी, सद्गुणी, सज्जन धरती के देवता समझे जाते हैं और मरने के बाद भी वंदनीय, श्रद्धास्पद ही बने रहते हैं, उनकी यश गाथाएँ अनेकों को प्रेरणा भरा प्रकाश देती रहती हैं। इसे स्वर्ग प्राप्ति न कहें तो और क्या कहें ? सम्मानस्पद, श्रद्धापात्र, सज्जन और प्रामाणिक किसी व्यक्ति को माना जाए, इससे बढ़कर सौभाग्य और संतोष की बात और क्या हो सकती है ? इस प्रकार के कर्मफल प्राप्त करते रहने की—स्वर्ग-नरक जैसी प्रक्रिया हम निरंतर फलित होती देखते रहते हैं।

कई व्यक्ति दूसरों को धोखा देकर अपनी वस्तुस्थिति छिपा लेने में प्रवीण बन जाते हैं और इस प्रकार पाप कर्म करते हुए दूसरों द्वारा मिलने वाले दंड से बच निकलने की तरकीब निकालते हैं। यह चतुरता आजकल बहुत अधिक चल पड़ी है। इससे कुछ लाभ तो है, पर हानि उससे कहीं अधिक है। लाभ यह है कि सरकार की पकड़ में न आने पर राजदंड से बच जाते हैं। पाप प्रकट न हो तो दूसरों

के द्वारा घृणा, निंदा एवं विलगता से होने वाली हानि बच जाती है। पर इसमें जो छिपाव का ताना-बाना बुनना पड़ता है, वह अंतर्मन में एक विचित्र प्रकार की घुटन पैदा करता है। दुष्कर्म के साथ दुराव मिल जाने से भाँग में भी अफीम मिली बन जाती है। अंतर्मन की बनावट ऐसी है कि वह इस घुटन को पचा नहीं सकती।

नीलाथोथा खा लेने पर उलटी हुए बिना रहती नहीं। जमाल गोटा खा लेने पर दस्त जाना ही पड़ेगा। कच्चा पारा खा लें तो शरीर में से फफोले बनकर फूटेगा। यह विष ऐसे हैं जो पच नहीं सकते। पच जाएँ तो और भी भयंकर प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं और जीवन दुर्लभ कर देते हैं। ठीक इसी प्रकार दुष्कर्म और दुराव मिलकर एक ऐसा विष बनाते हैं, जिसे चतुर मनुष्य देर तक छिपाए तो रह सकते हैं पर अंतर्मन को पचा लेने के लिए रजामंद नहीं कर सकते। सिगरेट का धुआँ पेट में भर लेना तो संभव है, पर वह वहाँ रुक नहीं सकता। मुँह बंद कर लें तो नाक में होकर बाहर आएगा। भीतर किसी भी हालत में रुकेगा नहीं।

हवा भरे गुब्बारे को पानी में जितने जोर से डुबाते हैं अवसर मिलते ही वह उसी वेग से उछलकर ऊपर आ जाता है। छिपे हुए पाप शारीरिक व्याधि और मानसिक 'आधि' बनकर समय कुसमय ऐसी बुरी तरह फूटते हैं कि कारण प्रतीत नहीं होता। चिकित्सा, उपचार काम नहीं करते।

यह पाप शरीर और मन को कष्ट देने तक ही सीमित नहीं रहते वरन् अंतरिक्ष में अनेक अदृश्य विपत्तियों का सृजन करतें रहते हैं। पत्थर के कोयले की अँगीठी कितने ही व्यक्ति ठंड से बचने के लिए कमरे में बंद करके रख लेते हैं। तत्काल ठंड से तो बचत दीखती है पर आकाश में ऐसा विष भर जाता है, जिससे सोते-सोते ही उनकी मौत हो जाती है। शरीर में चोट नहीं लगी, बुखार आया नहीं, मस्तिष्क की नस फटी नहीं, सब कुछ ज्यों का त्यों, मौत का कुछ कारण मोटी आँख से दिखाई नहीं पड़ता; पर जानकार जानते हैं कि अँगीठी ने वायु में विष घोल दिया और

वही मौत का कारण बना। ऐसे कितने ही अज्ञात-अप्रत्यक्ष कारण अनायास ही विपत्ति बनकर सामने आ जाते हैं, जिनका अपने तात्कालिक क्रियाकलाप से कोई सीधा संबंध नहीं दीखता। इसी प्रकार कई बार सुविधा-सफलताएँ भी मिल जाती हैं, जिनके लिए उचित श्रम और प्रयत्न नहीं किया गया होता। यह असंगत अवरोध और अनुदान—दैव इच्छा एवं भाग्य का खेल बनकर सामने आते हैं। उनका प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता पर परोक्ष कारण वह स्वसंचालित प्रक्रिया ही होती है, जिसने अपने कर्मों का फल अंतरिक्ष में धीरे-धीरे तदनुरूप वातावरण बनाया और वह भले-बुरे अप्रत्याशित अवसर सामने आकर खड़े हो गये।

समय लग सकता है। आज का फल आज न मिलने से व्यक्ति भ्रम में पड़ सकता है और यह सोच सकता है कि बुरे कर्म के दंड से बच गये या भला कर्म निष्फल चला गया, पर वस्तुतः ऐसा होता कभी नहीं। तुरंत या कालांतर में इसका रहस्य अज्ञात होने के कारण प्रत्यक्षवादी उतावले, अनास्थावान् हो उठते हैं, पर यदि धैर्य रखा जाए, तो प्रतीत होगा कि इसी जन्म में अथवा अगले जन्म में प्रत्येक कर्म का भला-बुरा परिणाम मिलना सुनिश्चित है। उसी व्यवस्था क्रम पर तो यह विश्व टिका हुआ है, यदि असंदिग्ध हो जाए तो फिर ऐसा अंधेर फैले—ऐसी अराजकता उपजे कि कहीं कुछ सँभालना—सँभलना संभव न हो सके। फिर न कोई पाप से डरे और न पुण्य का झंझट और न ही नुकसान उठाए।

दृष्टिकोण अपने आप में चित्त की प्रसन्नता-अप्रसन्नता—संतोष-असंतोष, शांति-अशांति बनकर पग-पग पर फलित होता रहता है। सत्कर्म करने पर मन में अनायास ही संतोष और उल्लास उठता रहता है। किसी कष्ट-पीड़ित की सहायता अपना काम हर्ज करके यदि कर दी जाए, तो भीतर ही भीतर एक परम सात्त्विक हल्का और शीतल मलयज पवन जैसा आनंद उठता अनुभव होगा। इसके विपरीत यदि चोरी, ठगी, अनीति बरत कर किसी को क्षति पहुँचाई होगी, तो भीतर ही

भीतर कोई खटमल-पिस्सू की तरह काट रहा होगा और आत्म-ग्लानि से अंतःकरण में उद्वेग बढ़ रहा होगा। वस्तुतः यही आत्म संतोष और आत्म धिक्कार अंतःकरण को बलिष्ठ और दुर्बल बनाते हैं और इसी आधार पर प्रगति के अगणित मार्ग खुलते और अवरुद्ध होते हैं। पापी का अंतरात्मा दिन-दिन दुर्बल होता जाता है। दूसरों पर से ही नहीं, अपने पर से भी उसका विश्वास उठ जाता है। आत्मबल खोकर मनुष्य चैन नहीं पा सकता, भले ही उसके पास पैसे-कौड़ियों के टीले क्यों न जमा हो जाएँ। आत्म-ग्लानि से भरी मनोभूमि को नरक कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकारांतर से अनेक दुश्चिताएँ आशंकाएँ, विभीषिकाएँ इतना सताती हैं कि उसकी तुलना में नरक वर्णित कष्टों की तुलना सहज ही की जा सके।

जो हर युवती को अपनी पुत्री की तरह देख सके, पराए पैसे को ठीकरी जैसा समझे, अपने स्वल्प उपार्जन से सादगी का जीवन जीते हुए संतुष्ट रहे, चरित्र उज्ज्वल रखे और दूसरों के प्रति स्नेह सहयोग भरा दृष्टिकोण रखे—उसे निरंतर अपने भीतर एक अमृत जैसी निर्झरी कल-कल ध्वनि से प्रवाहित होती हुई अनुभव होगी और लगेगा कि भावना क्षेत्र में स्वर्गीय सुषमा ही प्रादुर्भूत हो रही है।

मरने के बाद भी भले-बुरे कर्मों के दंड कितने ही प्रकार से मिलते होंगे। दो जन्मों के बीच सुखद और कष्टकर स्थिति रहती होगी, अगले जन्म उत्कृष्ट या निकृष्ट मिलते होंगे। स्वर्ग-नरक का स्थान-भाव ही सही—प्रतिफल की व्यवस्था मरणोत्तर जीवन में ही रहती होगी। पर इस जन्म में तत्काल भी भले-बुरे परिणाम मिलते रहते हैं और स्वर्ग-नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया भी हमें नियंत्रण में रहने और विवेकपूर्ण रीति-नीति अपनाने के लिए बाध्य करती रहती है।

❑ ❑

कुसंस्कार धोएँ—भूल सुधारें

✸

६ अगस्त सन् १९४५ को जापान पर दो अणु-बम फेंके गये थे, उसमें हिरोशिमा में ७८ हजार मनुष्य मरे और ५६ हजार घायल हुए थे। नागासाकी में ७४ हजार मरे और ७७ हजार घायल हुए थे। साढ़े नौ सौ वर्गमील का क्षेत्र पूरी तरह नष्ट हो गया था। इसके अतिरिक्त रेडियोधर्मी प्रभाव से पीड़ित लोगों की संख्या लाखों तक जा पहुँचती है।

इन अणु-बमों को गिराने के लिए प्रख्यात मेजर इथरली को अपने उस कुकृत्य से भारी आत्म-ग्लानि हुई। पहले वह सोचता था कि इतना बड़ा साहसिक काम करने के लिए उसे जो 'यश' मिलेगा, उससे उसे प्रसन्नता होगी, पर वैसा हुआ नहीं। आत्म-प्रताड़ना ने उसे विक्षिप्त बना दिया। वह आत्महत्या करने अथवा आत्मदंड पाने के दुःसह इतना आकुल रहने लगा, मानो इसके अतिरिक्त आत्म-प्रताड़ना के दुःसह दुःख से बचने का और कोई रास्ता हो ही नहीं सकता।

अंततः उसने आत्म-दंड का सहारा चुना। कई अपराध किए और बंदूक लेकर एक दुकान में डाका डालने के लिए घुस पड़ा। और पुलिस द्वारा पकड़ा गया और न्यू अर्लियेन्स के जेलखाने में वह बंद कर दिया गया। उसने अपनी सफाई देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। खुले रहने की अपेक्षा उसने जेल पसंद की, उसके ऊपर सरकार बनाम इथरली नाम से मुकदमा चला। पर उसका मानसिक और शारीरिक संतुलन इतना बिगड़ा हुआ था कि अदालत में खड़ा न हो सका। जेल से उसे अस्पताल भेजना पड़ा। मानसिक व्याधि ने उसका शेष जीवन नष्ट कर डाला।

नागासाकी (जापान) पर अणुबम गिराने वाले विमान संचालक फ्रेड ओलीवी ने अपने मार्मिक-वक्तव्य में कहा—"इस युग की सबसे दर्दनाक, सबसे अमानुषिक और सबसे भयानक घटना का जब भी मैं स्मरण करता हूँ तो सिर घूम जाता है और रात-रात भर उसी सोच-विचार में जागना पड़ता है। मुझे हैरत होती है कि विज्ञान ने क्या अजीब परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी ? जिस कार्य के लिए अनेक नैपोलियन मिलाकर भी कम पड़ते, उसे मुझ जैसे नाचीज व्यक्ति को कर गुजरने में समर्थ बना दिया गया। यह ऐसा भयानक कृत्य था, जिसका प्रभाव मनुष्यों पर पीढ़ी दर पीढ़ी तक पड़ता चला जाएगा।"

"हमें कोकुरा पर अणु-बम गिराना था, पर उस दिन वहाँ घने बादल छाए हुए थे—सो कुछ दीख नहीं पड़ रहा था। अस्तु दूसरे आदेश के अनुसार उसे नागासाकी पर गिराया। जहरीले धुएँ का छत्तेदार बादल प्रति मिनट एक मील की चाल से ऊपर उठता हुआ हमने देखा। मेरे मन में इस घड़ी इतनी प्राण-घातक भय की भावना उठी, जितनी मनुष्य के इतिहास में शायद कभी किसी ने अनुभव न की होगी। भागते-भागते हमें अणुतरंगों के एक के बाद एक झटके लगे। जहाज का नियंत्रण हाथ से छूटते-छूटते बचा और हम किसी प्रकार बाल-बाल बच निकलने में सफल हो गये। एक सेकंड की भी देर हो जाती, तो फिर हमारा भी खात्मा ही था। उस दस्ते के हम सब उड़ाका यही अनुभव करते रहे कि—'सिर्फ एक बम ही नहीं गिराया गया है वरन् एक बड़ी पिशाच-शक्ति को इस विश्व को निगल जाने के लिए छुटल कर दिया गया है।' उस घटना को काफी दिन बीत गये, पर आज भी जब मैं आँखें बंद करता हूँ तो महादैत्य जैसी उस दिन की नीली रोशनी अभी भी आसमान में छाई दीखती है, जिसके सामने सूरज बुझती मोमबत्ती जैसा लगता था। ईश्वर न करे, मानव इतिहास में फिर कभी ऐसा भयानक दृश्य देखने को मिले।

"जब मैं अणुबम गिराकर लौटा तो मेरी बूढ़ी माँ अत्यधिक दुःखी थीं। उनके चेहरे पर कातरता और करुणा बरस रही थी। जैसे ही घर में घुसा तो माँ ने कड़ककर पूछा—फ्रैडी, तुम्हारी आत्मा तुम्हें कचोटती नहीं ? अपराधी की तरह सिर नीचा किए मैं खड़ा रहा, एक शब्द भी मुँह से निकला नहीं।"

"वे रात को अक्सर चौंककर उठ बैठतीं और घुटने टेक कर प्रार्थना करती रहतीं—हे भगवान् ! मेरे बेटे को क्षमा करना।" फ्रेड ओलोवी जीवन भर अपने उस दुष्कृत्य के कारण पश्चात्ताप की आग में जलता रहा। यद्यपि बम गिराने का निर्णय उसका नहीं था, वह तो विमान चालक का कर्तव्य ही निभा रहा था। तो भी पाप-कर्म में सहभागी होने, मानवता के प्रति नृशंस व्यवहार का साथ देने की सजा उसके भीतर बैठे न्यायाधीश ने उसे दी। वह अंत तक बिलखता ही रहा।

पाप, अहंकार और अत्याचार संसार में आज तक किसी को बुरे कर्मफल से बचा न पाए। रावण का असुरत्व यों मिटा कि उसके सवा दो लाख सदस्यों के परिवार में दीपक जलाने वाला भी कोई न बचा। कंस, दुर्योधन, हिरण्यकश्यपु की कहानियाँ पुरानी पड़ गयीं। हिटलर, सालाजार, चंगेज और सिकंदर, नैपोलियन जैसे नर-संहारकों को किस प्रकार दुर्दिन देखने पड़े, उनके अंत कितने भयंकर हुए, यह भी अब अतीत की गाथाओं में जा मिले हैं। नागासाकी पर बम गिराने वाले अमेरिकन वैज्ञानिक फ्रेड ओलोवी और हिरोशिमा के विलेन (खलनायक) मेजर ईथरली का अंत कितना बुरा हुआ, यह देखकर-सुनकर सैकड़ों लोगों ने अनुभव कर लिया कि संसार संरक्षक के बिना नहीं है। शुभ-अशुभ कर्मों का फल देने वाला न रहा होता, तो संसार में आज जो भी कुछ चहल-पहल, हँसी-खुशी दिखाई दे रही है, वह कभी की नष्ट हो चुकी होती।

जालियाँवाले हत्याकांड की जब तक याद रहेगी, तब तक जनरल डायर का डरावना चेहरा भारतीय प्रजा के मस्तिष्क से न उतरेगा, पर बहुत कम लोग जानते होंगे कि डायर को भी अपनी

करनी का फल वैसे ही मिला जैसे—सहस्रबाहु, खर-दूषण, वृत्रासुर आदि को।

हंटर कमेटी ने उसके कार्यों की सार्वजनिक निंदा की, उससे उसका मन अशांत हो उठा। तत्कालीन भारतीय सेनापति ने उसके किये हुए काम को बुरा ठहराकर त्यागपत्र देने का आदेश दिया। फलतः अच्छी खासी नौकरी हाथ से गई, पर इतने भर को नियति की विधि-व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। आगे जो हुआ, प्रमाण तो वह है, जो यह बताता है कि मरने के फल विलक्षण और रहस्यपूर्ण ढंग से मिलते हैं।

सन् १९२१ में जनरल डायर को पक्षाघात हो गया, उससे उसका आधा शरीर बेकार हो गया। प्रकृति इतने से ही संतुष्ट न हुई, फिर उसे गठिया हो गया। उसके मित्र उसका साथ छोड़ गए। चलना-फिरना तक दूभर हो गया। ऐसी ही स्थिति में एक दिन उसके दिमाग की नस फट गई और फिर लाख कोशिशों के बावजूद वह ठीक नहीं हुई। डायर सिसक-सिसक कर, तड़प-तड़प कर मर गया। अंतिम शब्द उसके यह थे—

"जो अपने को मुझ जैसा चतुर और अहंकारी मानते हैं, जो कुछ भी करते न डरते हैं, न लजाते हैं, उनका क्या अंत हो सकता है ? यह किसी को जानना हो तो इन प्रस्तुत क्षणों में मुझसे जान ले।" डायर का यह स्वगतालाप उसके भीतर बैठे न्यायाधीश का ही निर्णय-वाचन था।

"डॉ० वारमन विन्सेंट पीले" अमेरिका के गिरजों के परामर्शदाता मंत्री थे और मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भी। अपने जीवन में उन्होंने सैकड़ों पीड़ित व्यक्तियों का मानसोपचार किया। विश्लेषण में उन्होंने यह पाया कि रोग-शोक और कुछ नहीं, पूर्वकृत बुरे कर्मों का ही परिणाम होता है। मस्तिष्क में जड़ जमाए हुए काम, क्रोध, लोभ, चोरी के भाव, व्यभिचार आदि शरीर में अपनी सहायक ग्रंथियों से एक प्रकार का रस (जिसे विष कहना उपयुक्त होगा) स्रावित करते रहते हैं, बीमारियों और व्याधियों का

कारण यह स्रावित रस ही होता है, जिसका मूल व्यक्ति के दुर्भाव, दुर्गुण और दुष्कर्म होते हैं।

कर्मों की गति यद्यपि विचित्र है, मानवीय दृष्टि से यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि किस पाप का परिपाक कहाँ जाकर होगा ? उसका फल कब मिलेगा ? चोरी करने वाले को तत्काल कोई दंड नहीं मिलता, व्यभिचार करने वाला उस समय पकड़ में नहीं आता, पर इन कर्मों का फल कालांतर में प्रकृति जन्म रूप में उसी प्रकार मिलता है, जिस तरह मक्का का फल दो महीने, जौ, गेहूँ सात महीने में और अरहर के बीज का फल दस माह में, पर प्रत्येक कर्म का फल मिलता अवश्य है।

पूर्वजन्म में किये हुये पाप व्यक्ति को रोग बनकर सताते हैं, इसका उल्लेख आयुर्वेद में आता है कि—**"पूर्वजन्म कृतं पापं व्याधि रूपेण पीड़ति।"** आज के भौतिकवादी युग में यह बातें कुछ असंभाव्य लगती हैं पर अब मनोविज्ञान का एक पक्ष ऐसा भी उभर रहा है, जिसने अनेक तथ्यों की खोज के आधार पर यह मानना प्रारंभ कर दिया है कि इस जन्म के रोग-शोक पूर्वजन्मों या जीवन के दुष्कर्मों का फल होता है।

अमेरिका में एक बहुत बड़े क्लीनिक के डॉ० सी० डब्ल्यू० लेब हुए है। उनके पास एक ऐसा रोगी आया करता था, जो आए दिन एक नये रोग की शिकायत किया करता था। कभी सिर दर्द, कभी डिसेंटरी, कभी तनाव, कभी थकावट। डॉक्टर ने हारकर एक दिन कह दिया—लगता है, तुम कोई ऐसा काम कर रहे हो, जिसके लिए तुम्हें अपनी आत्मा को दबाना पड़ता है। कोई पाप कर रहे हो, उसी के कारण तुम्हारे भीतर से रोग फूटते रहते हैं। पहले तो वह इनकार करता रहा, पर बाद में उसने स्वीकार किया कि उसका एक भाई किसी दूसरे देश में रहता है। जब पिता जीवित थे तो वे यह व्यवस्था कर गये थे कि उसकी जायदाद का समान भाग दोनों को मिलता रहे, पर उक्त सज्जन अपने भाई को थोड़े-से डालर भेजते थे, शेष स्वयं हड़प कर जाते थे।

जब अपना सारा पाप बयान कर चुके तो उन सज्जन ने बड़ा हल्कापन अनुभव किया, उसी दिन उसने अब तक भाई के हिस्से की जितनी धनराशि थी, वह सब भेज दी और साथ में पूर्वकृत पाप के लिये क्षमा भी माँगी। इसके बाद उन्हें किसी शारीरिक पीड़ा ने कष्ट नहीं दिया। इससे क्लेशों, कष्टों के सूक्ष्म आधार स्पष्ट होते हैं।

➢ कुसंस्कारों का परिपाक कष्टों के रूप में

जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हमें संकटों और अभावों के वास्तविक कारणों को समझने में सुविधा मिल रही है। मोटी बुद्धि सदा संकटों का कारण बाहर ढूँढ़ती है। व्यक्तियों परिस्थितियों पर ही प्रस्तुत विपन्नताओं का दोष थोपकर चित्त हल्का करने की विडंबना चलती रहती है। समझदारी बढ़ने पर ही यह पता चलता है कि घटिया व्यक्तित्व ही पिछड़ेपन से लेकर समस्त संकटों के घाट हैं। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थिति बनती है, उसे विचारशील ही स्वीकार करते हैं। अन्यथा आमतौर से कठिनाइयों के कारण बाहर ही ढूँढ़े जाते हैं। गहराई में प्रवेश किए बिना न तो वास्तविकता जानी जा सकती है और न उनके निवारण का कारगर उपाय ही बन पड़ता है। व्यक्तित्व का घटियापन सूझ ही न पड़े—उनके सुधार की कोई योजना बने ही नहीं, तो परिस्थितियों की विपन्नता का समाधान हो नहीं सकता। वे एक से दूसरा रूप बदलती रहेंगी।

बहुत समय पहले शारीरिक रोगों को बाहरी भूत-पलीतों का आक्रमण माना जाता था। पीछे वात, पित्त, कफ के ऋतु प्रभाव का कारण उन्हें माना गया। उसके बाद रोग के कीटाणुओं के आक्रमण की बात समझी गई। रोगों की शोधों में अगला चरण यह बना कि आहार की विकृति से पेट में सड़न पैदा होती है और उस विष से रोग उत्पन्न होते हैं। यह क्रम अधिकाधिक गहराई में प्रवेश करने का, अधिक बुद्धिमत्ता का, स्थूल से सूक्ष्म में उतरने का है। इस प्रगतिक्रम में उतरते-उतरते इन दिनों आरोग्यशास्त्र के मूर्धन्य क्षेत्र में इस तथ्य को

खोज निकाला गया है कि शारीरिक रोगों के संदर्भ में आहार-विहार, विषाणु आक्रमण आदि को तो बहुत ही स्वल्प मात्रा में दोषी ठहराया जा सकता है। रुग्णता का असली कारण व्यक्ति की मनःस्थिति है। मनोविकारों की विषाक्तता यदि मस्तिष्क पर छाई रहे, तो उसका अनुपयुक्त प्रभाव नाड़ी-संस्थान के माध्यम से समूचे शरीर पर पड़ेगा। फलतः दुर्बलता और रुग्णता का कुचक्र बढ़ते-बढ़ते अकाल मृत्यु तक का संकट खड़ा कर देगा। नये अनुसंधान जीवनी शक्ति का केंद्र हृदय को नहीं, मस्तिष्क को मानते हैं। रक्त की न्यूनाधिकता या विषाक्तता को रुग्णता का उतना बड़ा कारण नहीं माना जाता जितना कि मानसिक अवसाद एवं आवेश को।

इन शोध प्रयासों में नये-नये तथ्य सामने आए हैं। उनसे पता चलता है कि शरीर की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्रियाओं पर पूरी तरह मानसिक अनुशासन ही काम करता है। अचेतन मन की छत्र-छाया में रक्ताभिसंचरण, आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष, ग्रहण-विसर्जन, निद्रा-जागृति आदि की अनैच्छिक कहलाने वाली क्रियाएँ चलती रहती हैं। चेतन मन के द्वारा बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले क्रियाकलापों और लोक व्यवहारों का ताना-बाना बुना जाता है। शरीर की परोक्ष और प्रत्यक्ष क्षमता पूरी तरह अचेतन और चेतन कहे जाने वाले मनःसंस्थान के नियंत्रण में रहती है, उसी के आदेशों का पालन करती है। शरीर का पूरा-पूरा आधिपत्य मन-मस्तिष्क के ही हाथों में रहता है। उस क्षेत्र की जैसी भी कुछ स्थिति होती है, उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। यदि मस्तिष्क आवेगग्रस्त होगा तो शरीर के अवयवों में उत्तेजना और बेचैनी छाई रहेगी। इस स्थिति में ऐसे रोग उत्पन्न होंगे, जिनसे शरीर के उत्तेजित होने, गरम होने, फटने-फूटने जैसे अनुभव होने लगेंगे। यदि मस्तिष्क उदास-हताश, शिथिल हो जायेगा तो उस अवसाद का प्रभाव अंग-अवयवों की दुर्बलता के रूप में देखा जा सकेगा।

यह मोटा निष्कर्ष हुआ। बारीकी में उतरने पर पता चलता है कि अमुक शारीरिक रोग, अमुक मनोविकार के फलस्वरूप उत्पन्न

होते हैं और वे तब तक बने ही रहते हैं, जब तक कि मानसिक स्थिति में कारगर परिवर्तन न हो जाए। इस अनुसंधान ने उस असमंजस को दूर कर दिया है, जिसके अनुसार रोगियों को चिकित्सकों के दरवाजे पर ठोकरें खानी पड़ती हैं और नित नई दवाएँ बदलनी पड़ती हैं; किंतु आशा-निराशा के झूले में झूलते हुए समय भर बीतता रहता है। रोग हटने का नाम ही नहीं लेते। तेज औषधियाँ अधिक से अधिक इतना कर पाती हैं कि बीमारी के स्वरूप और लक्षण में थोड़ा-बहुत फेर-बदल प्रस्तुत कर दें। जीर्ण रोगियों में से अधिकांश का इतिहास यही है, जिससे औषधि उपचारक की निरर्थकता ही सिद्ध होती रहती है। आहार-विहार जन्य साधारण रोग को तो शरीर की निरोधक जीवनी शक्ति ही अच्छे करती रहती है। उसी का श्रेय चिकित्सकों को मिल जाता है। सचाई तो यह है कि एक भी छोटे या बड़े रोग का शर्तिया इलाज अभी तक संसार के किसी भी कोने में किसी भी चिकित्सक के हाथ नहीं लगा है। कोई भी औषधि अपने आश्वासन को पूरा कर सकने में सफल नहीं हुई है। अँधेरे में ढेले फेंकने जैसे प्रयास ही चिकित्सा क्षेत्र में चलते रहते हैं, उसी भगदड़ में कभी-कभी किसी अंधे के हाथ बटेर लग जाती है। यदि ऐसा न होता तो कम से कम चिकित्सकों को खुद तो रुग्ण रहना ही न पड़ता और उनके घर वाले या संबंधी तो बीमारियों से ग्रसित नहीं ही रहते। देखा यह गया है कि दवाओं की भरमार बीमारियों को घटाती नहीं वरन् उस नई विषाक्तता के शरीर में घुस पड़ने से नये-नये उपद्रव और खड़े होते हैं। सच तो यह है कि चिकित्सकों के शरणागत रहने वालों की अपेक्षा वे कहीं अधिक नफे में रहते हैं, जिन्हें चिकित्सा का सौभाग्य या अभिशाप प्राप्त कर सकने का अवसर ही नहीं मिल सका।

शरीरशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आरोग्य और रुग्णता की कुंजी मनःक्षेत्र में सुरक्षित है। मानसिक असंतुलन और प्रदूषण का निराकरण किए बिना किसी को भी स्वस्थ शरीर का आनंद नहीं मिल सकता। जीवन-शक्ति का पिछले दिनों बहुत गुणगान होता

रहा है। उसे प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल के कुलावे भी मिलाए जाते रहे हैं। टॉनिकों, हारमोन और ग्रंथि आरोपणों जैसे प्रयोग-परीक्षणों की भरमार रही है। किंतु गरीबों की बात तो दूर, कोर्ट-न्यायाधीश, शासनाध्यक्ष एवं स्वयं चिकित्सकों तक को उस प्रयास में कुछ पल्ले न पड़ा। अब यह निर्णय निकला है कि जीवनी शक्ति कोई शरीरगत स्वतंत्र क्षमता नहीं है वरन् जिजीविषा की मानसिक प्रखरता ही अपना परिचय जीवनी शक्ति के रूप में देती रहती है। मानसिक स्थिति के उतार-चढ़ावों के अनुरूप यह जीवनी शक्ति भी घटती रहती है। शरीर की बलिष्ठता, सक्रियता, स्फूर्ति ही नहीं, कोमलता, सुंदरता और कांति तक मानसिक स्थिति पर अवलंबित है। विपन्नता की मनःस्थिति में भय, शोक, क्रोध आदि के अवसर आने पर तो तत्काल आकृति से लेकर शरीर की सामान्य स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ते प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि मनोविकार जड़ जमा लें तो समझना चाहिए कि शरीर एक प्रकार से विपन्नता में फँस ही गया और उस दलदल से निकल सकना चिकित्सा-उपचार के बलबूते की बात भी नहीं रह गई है।

अब आरोग्य दशा और रोग-निवृत्ति की दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनःसंस्थान की खोज-बीन करना आवश्यक हो गया है और समझा जाने लगा है कि यदि मनुष्य के चिंतन क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, वहाँ जमी हुई वितृष्णाओं और विपन्नताओं का समाधान न किया गया तो आहार-विहार का संतुलन बनाए रखने पर भी रुग्णता से पीछा छूट नहीं सकेगा। चिकित्सा उपचार से भी मन बहलाने के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन सिद्ध हो नहीं सकेगा। अब क्रमशः औषधि-उपचार का महत्त्व घटता जा रहा है और मानसोपचार को प्रमुखता दी जा रही है। मानसिक बीमारियों की पिछले दिनों अलग से गणना होती रही है और उसका क्षेत्र अलग रहा है। अब नए शोध-प्रयोजनों ने कुछ दुर्घटना जैसे आकस्मिक कारणों से उत्पन्न होने वाले रोगों को ही शारीरिक माना है और लगभग

समस्त बीमारियों को मनःक्षेत्र की प्रतिक्रिया घोषित किया है। गहरी खोजों के फलस्वरूप आरोग्य जैसे मानवी-जीवन के अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पर नये सिरे से विचार कराना होगा और आहार-विहार के ही गीत न गाते रहकर यह देखना होगा कि मनस्विता बनाए रहने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है ?

मानसिक विकृतियों में से सामयिक उलझनों के कारण तो बहुत थोड़े-से ही होते हैं। अधिकतर उनका कारण नैतिक होता है। छल, दुराव एवं ढोंग, पाखंड के कारण मनुष्य के भीतर दो व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाते हैं। एक वास्तविक, दूसरा पाखंडी। दोनों के बीच भयंकर अंतर्द्वंद्व खड़ा रहता है। दोनों एक-दूसरे के साथ शत्रुता बनाए रहते हैं और विरोधी को कुचलकर अपना वर्चस्व बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह देवासुर संग्राम सारे मनःक्षेत्र को अशांत, उद्विग्न बनाए रहता है। इस विग्रह के फलस्वरूप अनेकों रोग उठ खड़े होते हैं और वे वैसी ही मानसिक स्थिति बने रहने तक हटने का नाम नहीं लेते।

शारीरिक रोग प्रत्यक्ष होते हैं। इसलिए उनकी जानकारी भी सहज ही मिल जाती है और दवा-दारू से इनका इलाज होने के भी साधन मौजूद रहते हैं। मानसिक रोगों के प्रायः विक्षिप्त स्तर के ऐसे लोग गिने जाते हैं, जो अपना सामान्य काम-काज चला सकने में असमर्थ हो गए हों, जिनका शरीर निर्वाह और लोक व्यवहार लड़खड़ाने और अटपटाने लगा हो, जो अपने लिए और साथी संबंधियों के लिए भार बन गए हों। ऐसे रोगियों की संख्या भी लाखों से आगे बढ़कर करोड़ों की संख्या अपने ही देश में छूने लगी है। यह विज्ञात विक्षिप्त हुए हैं। ऐसे लोगों की संख्या का कोई ठिकाना नहीं जो रोजी-रोटी तो कमा लेते हैं और खाते-सोते समय भी साधारण लगते हैं, पर उनका चिंतन विचित्र और विलक्षण होता है। कितने ही दुष्टता की भाषा में सोचते और हर किसी पर दोषारोपण करते हुए शत्रुता की परिधि में लपेटते हैं। कितने ही आशंकाओं, संदेहों, आक्षेपों के इतने अभ्यस्त होते हैं कि उन्हें अपनी पत्नी, बेटी, बहिन आदि तक के चरित्र पर अकारण

संदेह बना रहता है। संबंधियों और पड़ौसियों को अपने विरुद्ध कुचक्र रचते हुए दिखते हैं। दुर्भाग्य और ग्रह-नक्षत्रों के प्रकोप से कितने ही हर घड़ी काँपते हैं और विपत्ति का पहाड़ अपने ऊपर टूटता ही अनुभव करते हैं। शेखचिल्लियों के से मनसूबे बाँधते रहने वाले, संभव, असंभव का विचार किए बिना अपने सपनों की एक अनोखी दुनिया बनाए बैठे रहते हैं। न अपनी पटरी दूसरों के साथ बिठा पाते हैं और न किसी और को अपना घनिष्ठ बनने का अवसर देते हैं। परिस्थिति का मूल्यांकन कर सकना दूसरों की मनःस्थिति और परिस्थिति समझ सकना उनके लिए संभव ही नहीं होता। अटपटे अनुमान लगाते और बेतुके निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। विचार जो भी उठें, वे एक पक्षीय सनक की तरह बिना किसी तर्क-वितर्क का आश्रय लिये बेलगाम के घोड़े पर चढ़कर दौड़ते चले जाते हैं। जो सोचा जा रहा है उसका आधार क्या है और उस सनक पर चढ़े रहने का अंततः परिणाम क्या निकलेगा ? इतना समझ पाना उनके क्षत-विक्षत मस्तिष्क के लिए संभव ही नहीं होता। अकारण मुँह लटकाए बैठे रहने वाले, जिस-तिस पर दोषारोपण करने वाले—दुर्भाग्य की कुरूप तस्वीरें गढ़ने में उन्हें देर नहीं लगती। दुन्यिा को निस्सार बताने वाले आत्महत्या की बात सोचते रहने वालों की संख्या अपने ही इर्द-गिर्द ढेरों मिल सकती है। हँसी-खुशी से उनका कोई संबंध नहीं होता। कहीं न कहीं से मुसीबत की कल्पना ढूँढ़ लाते हैं और स्वयं दुःख पाते—साथियों को दुःख देते—जिंदगी की लाश ढोते रहते हैं। यह सनक कभी-कभी आक्रामक हो उठती है तो जो भी उसकी चपेट में आता है, उसे सताने में कसर नहीं छोड़ते। मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र समझने में उनकी अदूरदर्शिता पग-पग पर झलकती रहती है। ठगों के आए दिन शिकार होते रहते हैं। आयु बड़ी हो जाने पर भी सोचने का तरीका बालकों जैसा ही बना रहता है। किसी महत्त्वपूर्ण प्रसंग में उनका परामर्श तनिक भी काम का सिद्ध नहीं होता। अपनी कार्य पद्धति को किसी उद्देश्य के साथ

जोड़ सकना उनसे बन नहीं पड़ता। जैसे-तैसे समय गुजारते हुए—ज्यों-त्यों करके ही मौत के दिन पूरे कर लेते हैं। इन्हें पागल तो नहीं कह सकते, पर व्यक्तित्व की परख की दृष्टि से उससे कुछ अच्छी स्थिति में भी उन्हें नहीं समझ जा सकता।

विक्षिप्त, अर्ध-विक्षिप्त और विक्षिप्तता के सन्निकट—सनकी लोगों से प्रायः आधा समाज भरा पड़ा है। मूढ़ मान्यताओं-कुरीतियों, अंधविश्वासों से जकड़े हुए लोगों में शक्ति एवं विवेक बुद्धि का अभाव रहता है। उनके लिए अभ्यस्त ढर्रा ही सब कुछ होता है। उस लक्ष्मण रेखा से बाहर जाने में उन्हें भय लगता है। स्वतंत्र चिंतन का प्रकाश उनकी आँखें चौंधिया देता है और औचित्य को समझने, स्वीकार करने का साहस ही नहीं पड़ता। यह सुसंस्कारहीनता का, अविकसित एवं विकृत व्यक्तित्व का परिणाम ही है।

➢ संचित पाप कर्म : संकटों के कारण

शारीरिक रोग, मानसिक विक्षेप, दरिद्रता, दुर्घटना, अकाल मृत्यु, विपत्ति, संकट आदि अनेकों आकस्मिक आपत्तियों के कारण प्रायः पूर्व संचित पाप ही होते हैं। उनका कारण मात्र व्यवहार व्यतिक्रम ही नहीं होता वरन् संचित पाप-प्रारब्ध की भी बहुत बड़ी भूमिका होती है। मरने के उपरांत नरक, प्रेतयोनि, निकृष्ट योनियों में जन्म जैसी दुर्गतियों का कारण भी यह कुसंस्कारी संचय ही होता है। शास्त्र कहता है—

पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा।
पापेन जायते दैन्यं दुःखं शोको भयंकरः।।

पाप से व्याधि, वृद्धत्व, दीनता, दुःख और भयंकर शोक की प्राप्ति होती है। छोटे और बड़े पापों के क्रम से छोटे और बड़े फल प्राणी को भोगने पड़ते हैं।

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्यदुःखरोगानि बन्धनव्यसनानि च।। २।।

—चाणक्य

मनुष्यों को अपने अपराध रूपी वृक्ष से दरिद्रता, रोग, दुःख बंधन और विपत्ति आदि फल मिलते हैं।

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च।।

—महाभारत उद्योग पर्व ४२।२३

राजन् ! धर्म और पाप दोनों के पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनों का ही उपभोग करना पड़ता है।

आल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।।
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च।।

—मनु० ४।१५६

श्रेष्ठ आचरण का जीवन जीने वाला दीर्घजीवी होता है श्रेष्ठ संतान पाता और संपन्नता प्राप्त करता है। बुरों को भी सुधार देता है।

दुराचारी निंदित होता है, दुःख भोगता है, अल्पजीवी होता है और रोगी रहता है।

इतना सब जान लेने के उपरांत हमें एक ही निश्चय-निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चेतन की मूल सत्ता अंतःकरण को प्रभावित करने वाले नैतिक और अनैतिक विचार एवं कर्म ही हमारी भली और बुरी परिस्थितियों के लिए पूर्णतया उत्तरदायी हैं। इसी उद्गम से हमारे उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा होता है और यहीं से विपत्तियों के जाल गिराने वाली दुःखद संभावनाएँ विनिर्मित होती हैं। इस मूल केंद्र का परिशोधन करना ही एक प्रकार से आंतरिक काया-कल्प जैसा प्रयास है। प्रस्तुत संकटों से छुटकारा पाने और निकट भविष्य में फलित होने वाले संचित प्रारब्धों का निराकरण करने के लिए, आंतरिक परिशोधन का प्रयास इतना अधिक आवश्यक है कि उसे अनिवार्य की संज्ञा दी जा सकती है और कहा जा सकता है कि विष वृक्ष की जड़

काटने से ही काम चलेगा; टहनियाँ तोड़ने और पत्तियाँ गिराने से स्थायी समाधान बन नहीं पड़ेगा।

साधारणतया समझाने-बुझाने की पद्धति ही सुधार-परिवर्तन के लिए काम में लाई जाती है; पर देखा यह गया है कि भीतरी परतों पर जमे हुए कुसंस्कार इतने गहरे होते हैं कि उन पर समझाने-बुझाने का प्रभाव बहुत ही थोड़ा पड़ता है। देखा जाता है कि नशेबाजी जैसी आदतों से ग्रसित व्यक्ति दूसरे समझदारों की तरह ही उस बुरी आदत की हानि स्वीकार करते हैं। दुःखी भी रहते हैं और छोड़ना भी चाहते हैं, पर उस आंतरिक साहस का अभाव ही रहता है जिसकी चोट से उस अभ्यस्त कुसंस्कारिता को निरस्त किया जा सके। इस विवशता से कैसे छूटा जाए ? इसका उपयुक्त उपाय सूझ ही नहीं पड़ता। लगता रहता है कि कोई दैवी दुर्भाग्य ऐसा पीछे पड़ा है, जो विपत्ति से उबरने का कोई आधार ही खड़ा नहीं होने देता। पग-पग पर अवरोध ही खड़े करता और संकट पटकता भी वही दीखता है। यह दुर्भाग्य और कोई नहीं, अपने अंतरंग पर छाए हुए कषाय-कल्मष, कुसंस्कार ही हैं, जो अभ्यास और स्वभाव का अंग बन जाने के कारण छुड़ाए नहीं छूटते और पटक-पटक कर मारते हैं; नरक के यमदूतों जैसा त्रास देते हैं। इस विपन्नता को उलटने का समर्थ उपचार आंतरिक परिशोधन ही है।

दुष्कर्मों के संग्रहीत प्रतिफल को प्रारब्ध एवं भाग्य विधान को सुधारने और सरल बनाने के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों में एकमात्र विधान प्रायश्चित्त का ही है। प्रायश्चित्त का एक सुविस्तृत तत्त्वज्ञान और सुनिश्चित विधि-विधान है। यों सस्तेपन की बचकानी घुस-पैठ ने इस क्षेत्र को भी अछूता नहीं छोड़ा है और प्राचीन विधि-विधानों की ओछी और बचकानी नकलें बनाकर उस महान् प्रयोजन को भी उपहासास्पद ही बना दिया गया है। वस्तुतः प्रायश्चित्त विधान का वजन, किए गए पाप-कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले दंड के समतुल्य ही जा पहुँचता है। अंतर थोड़ा-सा ही रह जाता है। किसी को चोरी करने पर पुलिस और अदालत

द्वारा कठोर जेल-दंड भुगतना पड़ता है या अपनी भूल स्वयं समझकर जिसकी चोरी की है, उसके सामने दुःखी होते और जितना संभव है उतना लौटा देने से अपेक्षाकृत कम कष्ट सहने में काम चल जाता है। यही बात प्रायश्चित्त के संबंध में भी है। भूल स्वीकार करने—किए का पश्चात्ताप करने और भविष्य में वैसा न करने की भावभरी मनःस्थिति में अपराधी मनोवृत्ति के परिवर्तन का चिह्न है। यह चिह्न ही पाप दंड को हल्का करने का प्रधान आधार होता है। उसके उपरांत क्षतिपूर्ति का प्रश्न सामने आता है। जो हानि पहुँचाई गई है, अनाचरण से अंतःकरण को कलुषित और वातावरण को दूषित करने का सदाचार बन पड़ा है; उसकी क्षतिपूर्ति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो अनाचार का जितना गहरा गड्ढा खोदा गया है, उसे पाटा जाए अर्थात् क्षति पूर्ति कर सकना वर्तमान परिस्थितियों में जितना कुछ संभव रह गया है, उसे पूरा किया जाए। उसके अतिरिक्त अंतःकरण पर उन कुकर्मों के कुसंस्कार जो जमे हैं, उन्हें कुछ नए पुण्य कर्म करके सुसंस्कारों की नई स्थापना की जाए, जिनका श्रेष्ठ प्रभाव नए सिरे से अंतःकरण पर जमे और मलीनता की संचित परतों को हटा सकने में समर्थ बन सकें। इसी नीति को अपनाने में समाज की पहुँचाई गई क्षतिपूर्ति भी संभव हो सकती है।

इन्हीं सब तत्त्वों का सम्मिश्रण प्रायश्चित्त विधान है। इसमें वे सिद्धांत बीज रूप से मौजूद हैं, जो अशुभ भाग्य विधान को काट सकने में—अंधकारमय भविष्य की विभीषिका को निरस्त करने में समर्थ हो सकते हैं। अपराधकर्ता की इसी में शालीनता, सज्जनता और साहसिकता भी है। जिस दुस्साहस से प्रेरित होकर कुकर्म किए हैं, उसी स्तर का सत्साहस जुटाने वाला ही अपनी संचित दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह करने और उसके उन्मूलन में जुट जाने का सत्साहस कर सकता है। उस साहस में वीरता और शालीनता के चिह्न हैं। इसलिए उसका परिणाम परिवर्तनकारी—सुधार परायण एवं मंगलमय सिद्ध होता है, तो यह उचित ही है।

प्रायश्चित्त का अर्थ गिड़गिड़ाने या सस्ते मोल में विधि-विधान से बच निकलना नहीं, वरन् क्षतिपूर्ति करना है। दुष्कर्मों से अपने अंतःकरण को, विचार-संस्थान को तथा कार्य कर्मों में जिस प्रकार दुष्प्रवृत्तियों से भर दिया गया था, उसी साहस और प्रयास के साथ इन तीनों संस्थानों के परिमार्जन, परिशोधन एवं परिष्कार की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा गया है। पाप कर्मों से समाज को क्षति पहुँचती है। सामान्य मर्यादा प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न होता है। लोक परंपराएँ नष्ट होती हैं। अनेकों को कुमार्ग पर चलने के लिए अनुकरण का उत्साह मिलता है, जिन्हें क्षति पहुँची है, वे विलाप करते हैं और उससे वातावरण विक्षुब्ध होकर सार्वजनिक सुख-शांति के लिए संकट उत्पन्न करता है। ऐसे-ऐसे अन्य अनेकों कारण हैं, जिन्हें देखते हुए समझा जा सकता है कि जिसे पाप कर्म द्वारा क्षति पहुँचाई गई अकेले उसी की हानि नहीं हुई, प्रकारांतर से सारे समाज को क्षति पहुँची है। विराट् ब्रह्म को, विश्व मानव को ही परमात्मा कहा गया है। यह एक प्रकार से सीधा परमात्मा पर आक्रमण करना, उसे आघात पहुँचाना और रुष्ट करना हुआ। अपराध भले ही व्यक्ति या समाज के प्रति किए गए हों, पर उनका आघात सीधे ईश्वर के शरीर पर पड़ता है और उसे तिलमिलाने वाले कभी सुखी नहीं रहते।

अवांछनीयताओं का तत्काल परिशोधन होता रहे। गंदगी जमा न होने पाए यह उचित है। देर तक जमा रहने के उपरांत गंदगी की सड़न अधिकाधिक बढ़ती जाती है। शरीर में जमा हुआ विजातीय द्रव्य जितने अधिक समय तक ठहरेगा, उसी अनुपात से विष बढ़ता जायेगा और सामान्य रोगों की अपेक्षा उससे असाध्य बीमारी उपजेगी। पुराना कर्जा ब्याज समेत कई गुना हो जाता है। मनोमालिन्य बहुत समय तक टिका रहे तो वह द्वेष-प्रतिशोध का रूप धारण कर लेता है। संचित पापकर्मों के संबंध में भी यही बात है। उनका प्रतिफल भुगतने में जितनी देर होगी, उतनी ही प्रतिक्रिया भयंकर होगी। नया अपच जुलाब की एक गोली से साफ हो जाता है, किंतु यदि कई दिन तक मल रुका रहे तो उसकी

पत्थर जैसी कठोर गाँठें बनकर ऐसे भयंकर उदरशूल का कारण बनती हैं, जिसके लिए पेट फाड़कर गाँठें निकालने के अतिरिक्त और कोई चारा ही शेष नहीं रह जाता। गंदगी को जितनी जल्दी हटाया जा सके उतना ही उत्तम है।

इस जन्म के विदित और स्मृत पापों से लेकर जन्म-जन्मांतरों तक के पापों का निराकरण आवश्यक है। उन्हें निकालना और निरस्त करना आवश्यक है। विष खा जाने की गलती का परिमार्जन इसी प्रकार हो सकता है कि पेट और आंतों की धुलाई करके वमन-विरेचन आदि द्वारा उसे जल्दी निकाल बाहर किया जाए। प्राण संकट उसी उपाय से टल सकता है। प्रायश्चित्त ही परिशोधन का एकमात्र उपाय है। नदी, तालाबों में स्नान करने से, देव-मंदिरों का दर्शन करने से या छुट-पुट अन्य ऐसे ही उपचार कर देने से पाप नष्ट हो जाएँगे, ऐसा सोचना भूल है। यदि ऐसे ही दुष्कर्मों के दंड से छुटकारा मिल जाया करेगा तो फिर निर्भय होकर लोग वैसे ही कुकृत्य करते रहेंगे और दंड से बच निकलने के लिए ऐसे ही सस्ते तरीके ढूँढ़ लिया करेंगे। राज दंड से बचने के लिए रिश्वत का पहले ही बोलबाला है। लोकसेवी और धर्मात्मा का आडंबर रचकर उसकी आड़ में समाज दंड से भी बचाव हो जाता है। ईश्वरीय दंड ही एकमात्र पाप से डरने का कारण रह गया था, उसी अंकुश से नीति-निष्ठा बनी रहने की संभावना है, यदि उसे भी सस्ते कर्मकांडों के सहारे झुठला दिया गया तो समझना चाहिए कि उस आधार पर भरपेट पाप करते रहने और सरलतापूर्वक ईश्वरीय दंड से बच निकलने का एक और नया भ्रष्टाचार खड़ा हो गया। शारीरिक और मानसिक दुष्प्रवृत्तियों के परिमार्जन का एकमात्र उपाय प्रायश्चित्त ही है। उसमें दंड भुगतने, क्षतिपूर्ति करने और भविष्य में वैसी गलती न करने के तीनों ही वे तत्त्व घुले हुए हैं, जिनके सहारे भूल सुधारने और अंधकार को प्रकाश में बदलने का अवसर मिलता है।

❑ ❑

प्रायश्चित्त प्रक्रिया से भागिए मत

✸

रसौली (एक प्रकार उभरी हुई गाँठ की बीमारी) की मरीज एक स्त्री एक बार श्रीमती जे० सी० ट्रस्ट के पास गईं और अपने रोग की चिकित्सा के लिए कोई औषधि देने की प्रार्थना करने लगीं। श्रीमती ट्रस्ट अमेरिका की विश्व विख्यात संत हैं, जिन्होंने धर्म और अध्यात्म को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया, अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों से सैकड़ों पीड़ित और पतित लोगों का भला भी किया है। उनके प्रवचन और आध्यात्मिक गवेषणाएँ सुनने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक तक पहुँचते थे।

ट्रस्ट ने उस महिला को बहुत ध्यान से देखा और कहने लगीं—आप नहीं समझ सकतीं, पर जिन्हें प्रकाश की गति और अवस्था का ज्ञान होता है, वे यदि कोई न भी बताए तो भी, किसी के भी अंतरंग की बात जान लेते हैं। आपके शरीर में मुझे कुछ काले रंग के अणु दिखाई देते हैं, जो इस बात के प्रतीक हैं कि आपके जीवन में कहीं कोई त्रुटि, विकृति या ऐसी अनैतिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो आप दूसरों से छिपाती रहती हैं। आप प्रायश्चित्त का साहस कर सकें तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आपका यह छोटे से छोटा रोग तो क्या भविष्य में अवश्यंभावी कठिन रोगों का निवारण भी उससे हो सकता है।

स्त्री बोली—माता जी ! मैं आपके पास चिकित्सा के लिए आई हूँ, उपदेश तो बहुतेरे पादरियों, संत और धार्मिक व्यक्तियों से सुन चुकी। औषधि दे सकती हैं तो दीजिए, अन्यथा हम यहाँ से जाएँ।

उस महिला की तरह सैकड़ों लोगो के जीवन विकारग्रस्त होते हैं, मन में दूषित—काम, क्रोध, लोभ, मद-मत्सर आदि विकार उठते रहते हैं, उनसे प्रेरित जीवन से जो पाप संभव हैं, उन्हें लोग एक सामान्य ढर्रे की तरह अपना लेते हैं। कामवासना से पीड़ित व्यक्ति किसी भी नारी को देखकर उत्तेजित हो उठता है, क्रोधी व्यक्ति हर किसी को दुश्मन की तरह देखता और वैसा ही कटु व्यवहार करता, लोभी व्यक्ति ही चोरी से लेकर रिश्वत, छल कपट और मिलावट तक करते हैं, भले ही उसमें समाज का कितना ही अहित क्यों न हो ? जब उससे यह कहा जाता है कि पाप और विकारों का कर्मभोग भोगना पड़ेगा। यह पाप ही आधि-व्याधि, रोग-शोक और बीमारियों के रूप में फूटते हैं, इन्हें अभी सुधार लो, अभी प्रायश्चित्त कर पाप के बोझ से मन को हल्का कर लो। तब वह इन विचारों को दकियानूसी पिछड़ापन कहता है और तर्क देता है कि विकास के लिए संघर्ष-अनौचित्य प्राकृतिक सत्य है, प्रकृति यही सब कर रही है, मनुष्य क्यों न करें ? वह कर्मफल के सिद्धांत को मानने को तैयार नहीं होता। विकारों को वह विकार न मानकर शारीरिक आवश्यकताएँ मानता है और उनकी किसी भी उपाय से पूर्ति को धर्म। इन मान्यताओं के कारण ही आज न केवल सामाजिक व्यवस्थाएँ विश्रृंखलित हुई वरन् लोगों के जीवन रोग, शोक से भरते चले जा रहे हैं। पाप और मनोविकार सचमुच रोग और भविष्य के लिए अंधकार उत्पन्न करते हैं, यह बात अब न केवल तर्क संगत रही, वरन् विज्ञान सम्मत भी हो गई है।

श्रीमती ट्रस्ट के समझाने से उस महिला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अपने जीवन के सारे दोष स्वीकार किए और बताया कि उसे क्रोध बहुत आता है। इसी दुर्भाव के कारण वह अनेकों पाप कर चुकी हैं। उसने कई बार चोरी भी की है और झूठ-मूठ कहकर लोगों को लड़ाया भी। उसने अपने सारे ऐब स्वीकार कर लिए, इसके बाद ट्रस्ट के कहने से उसने कुछ दिन उपवास

किया, उससे उसकी गाँठ भी अच्छी हो गई और मन की अशांति भी दूर हो गई। श्रीमती ट्रस्ट ने इसी तरह एक नवजात शिशु के रोग उसकी माँ से प्रायश्चित्त कराकर ठीक किए। उन्होंने ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों से निष्कासन तप कराकर उन्हें शरीर और मन से शुद्ध बनाया। वह सब उपरोक्त वैज्ञानिक सत्य का ही प्रतिफल था।

अपराध यदि व्यक्त है, किसी की चोरी की गई, किसी की हत्या हुई, मिलावट के अपराध में पकड़ा गया, रिश्वत में मिले नोटों में किसी अधिकारी के हस्ताक्षर थे, उसने आकर पकड़ लिया, ऐसे अपराधी जेल भेज दिए जाते हैं। किसी-किसी को शारीरिक दंड देकर छोड़ दिया जाता है और मान लिया जाता है कि उससे अपराधी का दोष परिमार्जन हो गया।

भारतीय मान्यताएँ इससे भिन्न हैं। शाश्वत जीवन की कल्पना और कर्म-अकर्म के फल भोग के लिए बार-बार जीव-शरीरों में आने वाली अमर चेतना यदि स्वतः अपने पापों का, अपराधों का परिष्कार नहीं कर लेती तो वह निरंतर अधोगति की ओर अग्रसर होती चली जाती है और नरक के पतन के गड्ढे में जा गिरती है। कूकर, शूकर योनियों में जन्म, सर्प और भेड़िये के शरीर में आना आत्म चेतना के गुप्त मन की वह प्रेरणाएँ ही होती हैं, जो उसे शारीरिक और मानसिक पाप करने की प्रेरणा देती रहती हैं। शास्त्रकार ने उसका उपाय बताते हुए लिखा है।

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत।।

—मनुस्मृति ११।२२६

प्रकट पाप की शांति के लिए द्विजों को चांद्रायण आदि व्रत करना चाहिए और गुप्त पाप की शांति के लिए मंत्रों का जप और होम करें।

पाप कैसा भी हो, उसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति स्वयं ही होता है। एक बार डॉ० सिगमंड फ्रायड से किसी ने पूछा—स्वप्न कौन दिखाता है, तो फ्रायड ने छूटते ही उत्तर दिया—मनुष्य का मन। उन सज्जन का अभिप्राय यह था कि मनुष्य सामाजिक जीवन की अनेक परिस्थितियों से घिरा होता है, कोई उसे डाँट देता है तो गुस्सा आता है, कोई कामुक प्रदर्शन करता है तो मन में कामवासना के विकार उठ खड़े होते हैं, खाने-पीने का भी प्रभाव पड़ता है, यह सब मिलकर स्वप्न में प्रभाव डालते हैं, इसलिए स्वप्न का कारण व्यक्ति के मन को मानना उसकी दृष्टि में एक पक्षीय निर्णय था, किंतु विचारक फ्रायड उस मत के नहीं थे। यद्यपि काम जैसे नाजुक विज्ञान का भी वे शालीन विश्लेषण नहीं कर पाए तथापि पाप के प्रति उनकी विवेचना भारतीय विचारकों के विवेचन से मेल खाती है। पाप और अपराध किसी और कारण से नहीं, व्यक्ति की अपनी मानसिक कमजोरी से होते हैं और उसका दंड भुगते बिना वह उस मानसिक दुर्बलता से बच नहीं सकता। यह कहना गलत है कि इंद्रिय लिप्साएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ व्यक्ति की प्राकृतिक प्रेरणाएँ हैं, पाप नहीं। मनोविज्ञान अभी उस स्थिति में नहीं पहुँच सका, जिससे इस जन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही अगले जन्म होने की बात साबित हों, पर गुप्त मन के विकारों के दुष्परिणाम अब स्पष्ट हो चुके हैं। २२ दिसंबर १९५८ को लंदन से प्रकाशित होने वाले "संडे टाइम्स" में ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य श्री मॉटगुमरी हाइड ने जो कि अमरीका के अपराधी समाज का अध्ययन करने गए थे—एक लेख छापा; उसमें लिखा था—आज संयुक्त राज्य अमेरिका में जो सबसे अधिक वस्तु परेशान किए है, वह है बाल अपराध की समस्या। वहाँ १२ वर्ष से कम आयु के बच्चे चाहे जब चाहे जिसे गोली मार देते हैं। लास एंजिल्स में एक लड़के ने एक लड़की को केवल इसलिए गोली मार दी, क्योंकि वह एक ऐसी लड़की के चेहरे से मिलती-जुलती थी, जो उसके एक प्रतिद्वंद्वी

लड़के के घर की थी। उस लड़की को देखते ही उसे कुढ़न हुई और उसने गोली मार दी। ओहियो की एक बाल अपराध अनुसंधान समिति ने ५८ बाल अपराधियों के स्वभाव का परीक्षण कर पाया कि ५३ अपराधी ऐसे थे, जिन्होंने बिना कुछ सोचे-समझे अज्ञात प्रेरणा से अपराध किया। इन अपराधों का कारण माता-पिता की भावुक अस्थिरता को, पारिवारिक असंगठन और मनोमालिन्य को दिया जाता है; किंतु हर जगह ऐसा नहीं होता। बच्चों के जन्मजात संस्कारों का अपना महत्त्व होता है और उसकी वैज्ञानिकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। ऐसे अपराधों के व्यापक अध्ययन और अमेरिकन सुधार (करेक्शन) संघ में ३५ वर्षों तक निरंतर काम करने वाले महामंत्री श्री एडवर्ड कांस ने भी यही निष्कर्ष निकाला और कहा—अपराध वृद्धि का कोई सरल उत्तर दे सकना कठिन है। अधिक से अधिक उसके लिए माता-पिता और परिवार को ही दोष दिया जा सकता है, पर कुछ अप्रकट भी है, उसका मूल्य और महत्त्व कम नहीं आँका जाना चाहिए।

मन एक प्रकार की विद्युत् है, जिस प्रकार संसार के सभी पदार्थ नष्ट नहीं होते, केवल रूपांतरित होते हैं, मन भी नष्ट नहीं होते। मनुष्य अपने व्यक्त जीवन में जो भी विचार और कर्म करता है, वह सब संस्कार रूप से मन में जमते अपनी गाँठ मजबूत बनाते चले जाते हैं। ऊपर से देखने पर मनुष्य वही रहता है, पर शारीरिक परिवर्तन के समान ही उसके मानसिक संस्कार परिवर्तन भी प्रौढ़ होते चले जाते हैं और यदि उनका समय रहते निदान नहीं कर लिया जाता तो वे काले अणुओं के रूप में जीवात्मा के साथ चले जाते हैं। वही कुसंस्कार अगले जन्मों में मनोविकार, अपराध भावना आदि के रूप में फूट पड़ते हैं और मनुष्य जीवन को अज्ञात गंदगी की ओर बढ़ा ले जाते हैं। ऊपर से देखने पर मनुष्य कितना ही अच्छा क्यों न दिखाई देता हो, उसकी असलियत उसके मन में छिपी रहती है। वही व्यक्ति के संस्कारों में अज्ञात कल्पना और विचारों के रूप में

स्वप्नों में अभिव्यक्त होती रहती है। वास्तव में इन संस्कारों का विश्लेषण ही सच्चा मनोविज्ञान हो सकता है, केवल किसी के बाह्य स्वभाव का अध्ययन मनोविज्ञान नहीं।

हिटलर युवावस्था में साहसी, धीर और वीर प्रकृति का व्यक्ति था, किंतु अपनी महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर जब उसने हिंसा बरतनी शुरू की, हजारों निरीह व्यक्तियों को उसने मौत के घाट उतार दिया, तो दूसरों का कितना अनर्थ हुआ, उससे अधिक उसने अपना पतन कर लिया। सन् १९४५ में जबकि उसे आत्म रक्षार्थ एवं बंकर में भूमिगत होना पड़ा, तब उसकी स्थिति यह थी कि वह अपने बड़े से बड़े विश्वासपात्र को भी संदेह से ही देखता। वह इतना भयभीत रहता था कि ताजी हवा लेने के लिए बंकर से ऊपर भी नहीं आता था। गोरिंग लुफ्तवाफ को उसने जर्मन वायुसेना का प्रधान सेनापति अपना वफादार मानकर नियुक्त किया था, उसने विद्रोह किया भी नहीं था पर उसने ग्रीम से उसके देशद्रोही होने की बात कही। ग्रीम सारी स्थिति जानता था पर भयवश खुद भी सच्ची बात नहीं कर सकता था। हिटलर का मानसिक संताप इतना अधिक बढ़ गया था कि उसे पैर में लकवा मार गया। दो दिन पूर्व तक उसके बाल काले थे, पर एक दिन में ही उसके बाल सफेद कैसे पड़ गए इस बात पर स्वयं उसकी प्रेमिका इवा और गोबेल्स की पत्नी फ्रा भी आश्चर्यचकित हो उठी थीं। अंततः अपनी मानसिक स्थिति नियंत्रण से बाहर पाई तो हिटलर को आत्महत्या ही उससे बचने का एकमात्र उपाय सूझा और उसने आत्महत्या कर ली।

मन के कुसंस्कारों को छुपाना पाप का भी पाप है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने निष्कासन तप का सिद्धांत बनाया था। लोगों को चांद्रायण आदि कराते समय उनसे सारे पाप कबूल कराए जाते थे। देखने में प्रायश्चित्त कर्ता को अपना स्वाभिमान नष्ट-सा होता दीखता है, उससे औरों की हँसी का डर भी रहता है, किंतु भूलें स्वीकार कर लेने में मन में जो गाँठें पड़ सकती थीं वह

पड़ने से बच जाती हैं और मनुष्य एक व्यवस्थित जीवन के लिए, शुद्ध-संस्कारित जीवन के लिए तैयार हो जाता है।

बंबई का एक समाचार है—सिंध हैदराबाद में देश विभाजन के समय मजिस्ट्रेट बी० ए० गहानी की अदालत में एक केस आया—गहानी ने यह बात स्वयं ही तब बताई जब वे बंबई के मुख्य प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट थे। केस एक वृद्ध के खिलाफ था। सुनवाई की तारीख के दिन श्री गहानी फैसला तैयार नहीं कर सके थे। वृद्ध बीमार था, इसलिए वह स्वयं नहीं आ पाया था; तारीख बढ़ाने के लिए लड़के को भेज दिया। लड़के को तारीख बढ़ाने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ी। मजिस्ट्रेट ने तारीख बढ़ाने की घोषणा कर दी। वृद्ध ने उसका अर्थ यह लगाया कि फैसला उसके विपरीत गया होगा, तभी तारीख बढ़ाई गई। इस सदमे से उसकी मृत्यु हो गई। अगली तारीख में जब मजिस्ट्रेट ने उसे निर्दोष घोषित किया, तब लड़के ने बताया कि वह तो उसी दिन मर गए। इससे मजिस्ट्रेट के मन में अपने छिपाव का मनस्ताप रहने लगा। २५ वर्ष तक इस मनोव्यथा की स्थिति में रहने के बाद जब बोझ असह्य हो चला तो उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपनी भूल स्वीकार की, उन्हें तभी अपनी मनोव्यथा से मुक्ति मिली। भले ही अकर्तव्य के लिए उन्हें उपहास और फटकार ही क्यों न मिली हो। इसके साथ ही यदि उपवास या व्रत आदि कर लिया जाता तो दोष और भी शांत हो जाता।

अरब के प्रसिद्ध हकीम श्री इब्नसीना ने अपनी पुस्तक "कानून" में एक दिलचस्प उदाहरण दिया है, जो **"पूर्व जन्म कृतं पापं व्याधि रूपेण तिष्ठति"** वाली भारतीय मान्यता का समर्थन करता है। गजनी का महमूद इब्नसीना को अपने पास रखना चाहता था। पर जब इब्नसीना ने इनकार कर दिया तो उसने बल प्रयोग करना चाहा। इब्नसीना हर्केनियाँ भाग गए। वहाँ का शासक बीमार था, जिसे कोई भी अच्छा नहीं कर सका था। इब्नसीना उसे देखने गए। नब्ज पकड़कर बोले—आप अनेक शहरों के नाम

बोलिए। एक खास शहर का नाम लेने पर रोगी की नब्ज फड़की। फिर एक ऐसा आदमी बुलाया गया जो उस शहर की हर गली को जानता हो। इस बार गलियों के नाम पुकारे गए। एक विशेष गली का नाम लेने पर फिर वैसी ही नब्ज फड़की। इस तरह इब्नसीना ने उस युवती का पता लगा लिया, जिसे शाह ने देखा था और उसे ब्याहता बनाना चाहता था, पर उसे जानता नहीं था।

मन के अज्ञात सागर में कहाँ के, किस जन्म के संस्कार भरे हैं, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है, हमारे शरीर की हर ज्ञात-अज्ञात क्रिया पूर्वकृत कर्म और विचारणा के आधार पर चलती है। इसलिए जीवन की शुद्धता, सुख-शांति का आधार ही यही है कि मन शुद्ध हो, सात्विक विचारों वाला संकल्पशील हो।

अब ऐसे यंत्र भी बन चुके हैं, जिनके प्रयोग से पता चलता है कि मन में रागात्मक अनुभव जितना तीव्र होगा, त्वचा का विद्युत् अवरोध उतना ही घट जायेगा। इसी आधार पर सच और झूठ का विश्लेषण करने वाली मशीनें बनाई गई हैं। ये मशीनें "स्फिग्मोमैमीटर" तथा "न्यूमोग्राफ" से बनाई गई हैं। एक फीते पर सच या झूठ का ग्राफ त्वचा की प्रतिरोधकता के अनुसार खिंच जाता है। आगे अज्ञात संस्कारों को जानने वाली मशीनें भी बन सकती हैं और पापों की पोल खोलने वाले यंत्र भी प्रकाश में आ सकते हैं। उन सबका निष्कर्ष यही होगा कि मनुष्य अपनी भावनाओं को शुद्ध रखकर ही सुखी रह सकता है। उसका एक- मात्र उपाय प्रायश्चित्त प्रक्रिया ही होगी। अपनी भूलें स्वीकार करने और उचित दंड के लिए सहर्ष तैयार होने के अतिरिक्त हमारी सुख-शांति और सद्गति का दूसरा उपाय नहीं। उससे बचने का अर्थ अपना ही अहित, आत्मघात होगा, जिसका बुरा फल न जाने कितने जन्मों तक भोगना पड़ेगा। शास्त्रों में इसीलिए पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के विधान निर्दिष्ट हैं—

यावंतो जंतवः स्वर्गे तावंतो नरकौकसः।
पापकृद्याति नरकं प्रायश्चित्तपराङ्मुखः।।

गुरुणि गुरुभिश्चैव लघूनि लघुभिस्तथा।
प्रायश्चित्तानि कालेच मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

—शिवपुराण ५।१६।२७

जो मनुष्य अपने किए हुए दुष्कर्मों का कोई भी प्रायश्चित्त शास्त्रानुसार नहीं किया करते हैं, वे ही पापात्मा प्राणी नरक में जाया करते हैं। स्वयंभु मनु ने तथा अन्य महर्षियों ने भी बड़े पापों के बड़े प्रायश्चित्त और छोटे-छोटे पाप-कर्मों के छोटे प्रायश्चित्त बतलाए हैं।

पश्चात्तापः पापकृतां पापानं निष्कृतिः परा।
सर्वेषां वर्णितं सद्भिः सर्वपापविशोधनम्।।
पश्चात्तापेनैव शुद्धिः प्रायश्चित्तं करोति सः।
यथोपदिष्टं सद्भिर्हि सर्वपापविशोधनम्।।
प्रायश्चित्तमधीकृत्य विधिवन्निर्भयः पुमान्।
न याति सुगतिं प्रायः पश्चात्तापी न संशयः।।

—शिवपुराण १।३।५

पश्चात्ताप ही पापों की परम निष्कृति है। विद्वज्जनों ने पश्चात्ताप से सब प्रकार के पापों की शुद्धि होना कथन किया है। पश्चात्ताप करने से जिसके पापों का शोधन न हो, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। विद्वानों ने इससे सब पापों का शोधन होना कहा है। विधिपूर्वक अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त करने पर भी मनुष्य भय-रहित नहीं हो पाता; परंतु पश्चात्ताप करने वाले को सुगति की प्राप्ति होती है।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते।।

—महाभारत वन पर्व २०७।५१

जो मनुष्य पाप कर्म बन जाने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है, वह उस पाप से छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा

कर्म नहीं करूँगा'—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर वह भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से भी बच जाता है।

पापों का प्रायश्चित्त न करने वाले मनुष्य नरक को तो जाते ही हैं, अगले जन्मों में उनके शरीरों में उन पापों के चिह्न भी प्रकट होते हैं।

प्रायश्चित्त न किया जाए तो अनेकों जन्मों तक वे पाप चिह्न प्रकट होते हैं। उनका निवारण प्रायश्चित्त करने पर ही होता है।

महा पापों के चिह्न सात जन्मों तक, मध्यम पापों के चिह्न पाँच जन्मों तक, छोटे पापों के चिह्न तीन जन्मों तक रहते हैं।

➢ प्रायश्चित्त प्रक्रिया के चार चरण

प्रायश्चित्त के चार चरण हैं—

(१) जीवन भर के दुष्कर्मों की सूची बनाकर, उनके द्वारा दूसरों को पहुँची हानि का स्वरूप समझना।

(२) दुष्कर्मों का चिंतन और आत्म-विश्लेषण करना,

(३) उन्हें न दोहराने का संकल्प एवं

(४) विज्ञजनों के समक्ष उनका प्रकटीकरण करते हुए प्रायश्चित्त का संकल्प लेना अर्थात् आत्मस्वीकृति एवं संकल्प।

इन चारों चरणों का अधिक स्पष्टीकरण यह है कि पाप-कर्म इसलिए बनते और बढ़ते रहते हैं कि कर्ता उनके द्वारा होने वाली हानियों पर ध्यान नहीं देता। उन्हें अन्य लोगों द्वारा भी अपनाई जाने वाली सामान्य क्रिया-प्रक्रिया मान लेता है और ऐसे ही हल्के मन से उन्हें करता चला जाता है। बाद में अभ्यास बन जाते हैं। धन, अधिकार, आतंक, उपयोग जैसे कई लाभ मिलने लगते हैं तो उनका आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। पीछे वह आदत, स्वभाव का अंग बन जाती है और बाहर वालों के समझाने, बुझाने एवं डाँट-डपटने से भी नहीं छूटती। कुमार्ग से विरत होने का एक ही मार्ग है कि उस मार्ग पर चलने वाले को

उसकी हानियाँ स्वयं दृष्टिगोचर हों और प्रतीत हो कि इस दिशा में चलकर वह अब तक अपना तथा दूसरों का कितना अहित कर चुका। गतिविधियाँ जारी रहीं तो और भी कितनी हानि हो सकती है ?

दुष्कर्मों, दुष्प्रवृत्तियों और दुर्भावनाओं से दूसरों का अहित और अपना हित होने की बात सोची जाती है, पर वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। कुमार्ग की कँटीली राह पर चलने से अपने ही पैर काँटों से बिंधते हैं, अपने ही अंग छिलते और कपड़े फटते हैं। झाड़ियों को भी कुछ हानि तो होती होगी, पर इससे क्या ? घाटे में तो अपने को ही रहना पड़ा। अपना मस्तिष्क विकृत होने से प्रगति के रचनात्मक कार्यों में लग सकने वाली शक्ति नष्ट हुई। अनावश्यक कार्यों में पड़ने से यह बहुमूल्य यंत्र विकृत हुआ। शारीरिक और मानसिक रोगों की बाढ़ आई। मनःस्थिति गड़बड़ाने से क्रियाकलाप उलटे हुए और विपरीत परिस्थितियों की बाढ़ आ गई। हर दृष्टि से यह अपना ही अहित है। अस्तु, बुद्धिमत्ता इसी में है कि सन्मार्ग पर चला जाए, सत्प्रवृत्तियों को अपनाया जाए और अंतःकरण को सद्भावनाओं से भरा-पूरा रखा जाए।

इस प्रकार के चिंतन से ही यह विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है, जिसके कारण दुष्कर्मों के प्रति भीतर से घृणा उपजती है, पश्चात्ताप होता है। यह घृणा और पछतावा ही वे आधार हैं, जिनके सहारे भविष्य में वैसा न होने की आशा की जा सकती है। अन्यथा कारणवश उपजा सदाचरण का उत्साह, श्मशान-वैराग्य की तरह ठंडा हो जायेगा और फिर उसी पुराने ढर्रे पर गाड़ी के पहिए लुढ़कने लगेंगे। प्रथम चरण पश्चात्ताप की उपयोगिता इसी दृष्टि से है कि अंतःकरण में अनाचार विरोधी प्रतिक्रिया इतने उग्र रूप से उभरे कि भविष्य में उस प्रकार के अनाचरण की गुंजायश ही शेष न रह जाए।

दूसरा चरण मन की गाँठें खोल देने का है। इसमें दूसरों का नहीं, अपना ही लाभ है। अनैतिक दुराव के कारण मन की भीतरी परतों में एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ बनती हैं। उनके कारण केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक रोग भी उठ खड़े होते हैं। यह प्रकृति निर्मित—स्वसंचालित दंड व्यवस्था है, जिसके कारण अपना आपा ही न्यायाधीश बनकर अनाचार के दुष्परिणाम प्रस्तुत करता रहता है। यह ग्रंथियाँ व्यक्ति को बुरी तरह लड़खड़ा देती हैं। उसे विकृत बेढंगा, बेहूदा और बेसिलसिले का बना देती हैं। ऐसा व्यक्ति कुढ़ता-कुढ़ाता, खीजता-खिजाता देखा जाता है। हँसने-हँसाने का सहयोग देने, पाने की उसकी स्थिति ही नहीं रह जाती। यदि इस स्थिति से छुटकारा न मिले तो अर्ध-विक्षिप्त, अर्ध-मृतक, अर्धांगग्रसित रोगी की तरह गया-गुजरा—उपहासास्पद, तिरस्कृत जीवन बिताना पड़ता है। विकसित व्यक्तित्व का लाभ यदि समझा जा सके तो उसका मूल्य चुकाने की भी तैयारी करनी चाहिए। खुला मन, स्वच्छ मन, दुरावरहित मन ही व्यक्तित्व को गौरवान्वित स्थिति तक पहुँचाने में समर्थ हो सकता है।

मानसोपचार में रोगी को अब तक के जीवन के सामान्य जीवन-क्रम को विस्तारपूर्वक सुनाने के लिए कहा जाता है। चिकित्सक उन संस्मरणों को रुचिपूर्वक सुनता जाता है। उस प्रसंग में उन घटनाओं की भी चर्चा हो जाती है, जिन्होंने अचेतन मन पर कोई अवांछनीय छाप डाली और मानसिक स्तर लड़खड़ा गया। मन में चुभा वह काँटा यदि निकल गया तो वह विक्षिप्त व्यक्ति स्वयमेव अच्छा होने लगता है और कष्ट कट जाता है। शरीर में विष का प्रवेश हो जाए तो उसे किसी न किसी उपाय से निकाल बाहर करना ही प्राण रक्षा का एकमात्र उपाय होता है। ठीक उसी प्रकार अनैतिक दुराव की ग्रंथियों को निकाल बाहर करने से ही वह मनःस्थिति प्राप्त होती है, जो सुविकसित

जीवन-क्रम बनाने के लिए नितांत आवश्यक है। इस दृष्टि से उन दुरावों को प्रकट करना आवश्यक है।

असत्य को सबसे बड़ा पाप माना गया है। कपट और छल-छिद्र को रामायण में अध्यात्म मार्ग का सबसे बड़ा अवरोध और ईश्वर-विरोधी विग्रह माना गया है। व्यभिचार में यों हत्या, अपहरण जैसा कोई अत्याचार नहीं है, पर चूँकि उसमें दुराव अपनाना पड़ता है, अस्तु उतने भर से अतीव हानिकारक परिस्थितियाँ बन जाती हैं और अनिष्टकारक प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। असत्य के कई विशेष प्रसंगों को अपवाद रूप से समय की आवश्यकता के रूप में अपनाना पड़ता है, किंतु सामान्यतः उसे इसी कारण पाप ठहराया गया है कि उसमें दुराव का भयंकर दोष छिपा हुआ है और इस कारण विकृतियों की अवांछनीय शृंखला ही चल पड़ती है।

अनैतिक दुरावों के प्रकटीकरण में यह खतरा भी है कि ओछे व्यक्ति उन जानकारियों का अनुचित प्रयोग कहने वाले की बदनामी करने तथा हानि पहुँचाने के लिए कर सकते हैं। अस्तु निस्संदेह इस प्रकटीकरण के लिए ऐसे सत्पात्रों को ही चुनना चाहिए, जिनकी उदारता एवं दूरदर्शिता असंदिग्ध हो। चिकित्सक के आगे रोगी को अपने यौन रोगों की वस्तुस्थिति बतानी पड़ती है। उदार चिकित्सक उन कारणों को प्रकट करते नहीं फिरते, जिनकी वजह से वह रोग उत्पन्न हुए। उनका दृष्टिकोण रोगी की निवृत्ति भर होता है। ऐसे ही उदारचेता एवं उपयुक्त मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ व्यक्ति ही इस योग्य होते हैं, जिनके सामने अपने मन की दुराव-ग्रंथियाँ खोली जा सकें। हर किसी के सामने इस प्रकार के वर्णन करते फिरने में और भी उलटी और नई झंझट भरी परिस्थितियाँ उठ खड़ी होने की संभावना रहती है, अस्तु इस संदर्भ में जहाँ रोगी और चिकित्सक की स्थिति हो वहीं प्रकटीकरण की बात सोचनी चाहिए।

ईसाई धर्म में प्रवेश करने वाले को 'बपतिस्मा' लेना पड़ता है। उस संस्कार के समय मनुष्य को अब तक के अपने

पाप-पादरी के सम्मुख एकांत में कहने होते हैं। उस धर्म में मृत्यु के समय भी यही करने की धर्म परंपरा है। मरणासन्न के पास पादरी पहुँचता है। उस समय अन्य सब लोग चले जाते हैं। मात्र पादरी और रोगी ही रहते हैं। वह व्यक्ति अपने पापों को पादरी के सामने प्रकट करता है। इस प्रकार उसके मन पर चढ़ा भार हल्का हो जाता है। पादरी शांति-सद्‌गति की प्रार्थना करता है और रोगी को आश्वस्त करके महाप्रयाण के लिए विदा करता है। बपतिस्मा और मरण काल में इस स्वीकारोक्ति को—'कन्फैशन' को अत्यंत पवित्र और आवश्यक माना गया है। मनःशास्त्र के अनुसार यह प्रथा नितांत श्रेयस्कर ठहराई गई है।

प्रायश्चित्त में प्रकटीकरण को एक अति महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। अनैतिक कृत्यों के दुराव को कभी किसी के सामने प्रकट न किया जाए तो मनःक्षेत्र में वह उर्वरता उत्पन्न न हो सकेगी, जिसमें आध्यात्मिक सद्‌गुणों का अभिवर्धन संभव होता है।

प्रायश्चित्त का तीसरा चरण है—दंड स्वरूप अपने ऊपर ऐसे दबाव डालना जिनकी स्मृति देर तक बनी रहे और उस परिवर्तन की छाप को अंतःचेतना गहराई तक धारण कर ले। बच्चे को कभी अधिक गड़बड़ी फैलाने पर अभिभावक हलकी चपत जड़ देते हैं या दूसरे प्रकार से धमका देते हैं, उससे बच्चे पर सामान्य समझाने-बुझाने की अपेक्षा अधिक गहरा असर पड़ता है और वह सीख जाता है कि इस प्रकार की गड़बड़ी पर अभिभावक कितने अधिक रुष्ट होते हैं। इस दृष्टि से वह धमकाना थोड़ा कष्टकर होने पर भी परिणाम की दृष्टि से श्रेयस्कर होता है। उससे गड़बड़ी के दुहराए जाने की संभावना घटती है।

स्कूलों में भी बच्चों को पैसे का जुर्माना, खड़ा कर देना, परीक्षा से रोक लेना आदि दंड दिए जाते हैं, ताकि उनकी अनुचित गतिविधियों को रोका जा सके। जेल में जो कैदी गड़बड़ी करते हैं उन्हें बेड़ी, खड़ी हथकड़ी, कड़ा परिश्रम, तनहाई, छूटने में मिलने वाले समय की रिआयत को काट लेना आदि कई तरह के सामयिक

दंड मिलते हैं। इसका उद्देश्य इतना भर होता है कि जेल व्यवस्था तोड़ने पर अधिकारी वर्ग रुष्ट हैं और दंड देने पर उतारू हैं। इससे कैदी के मन पर छाप पड़ती है और भविष्य में उस गलती को दुहराने से डरता है। प्रायश्चित्त रूप में अपने आपको दंड देने में यह पद्धति तप-तितीक्षा के नाम से विनिर्मित की गई है।

व्रत, उपवासों में कई तरह के विधि-विधान हैं। चांद्रायण, कृच्छ चांद्रायण आदि का विशेष रूप से उल्लेख है और भी कई हल्के-भारी व्रत-उपवास, अस्वाद आहार, एक समय खाना आदि की विधि-व्यवस्थाएँ मिलती हैं। पैदल तीर्थयात्रा, परिक्रमा इसी प्रकार है जैसे पुलिस-फौज में अपराधी सिपाहियों को दौड़ने की 'दलील' कराई जाती है। सर्दी-गर्मी का सहना, कम वस्त्र पहनना, नंगे पैर रहना, भूमि शयन, मौन धारण, रात्रि जागरण, खड़े रहना आदि कितने ही विधानों का शास्त्र में उल्लेख मिलता है। जप, अनुष्ठान, पाठ आदि भी इस संदर्भ में कराए जाते हैं। इन सबमें थोड़ी-सी शारीरिक एवं मानसिक कठिनाई सहन करनी पड़ती है। इससे अनीति आचरण के दुष्परिणाम और छोड़ देने के लिए किए संकल्प का ध्यान भविष्य में भी बना रहता है। यह अंतःचेतना पर परिवर्तन की छाप छोड़ने का अच्छा उपाय है। इसलिए इस तीसरे चरण को प्रायश्चित्त विधान में समुचित स्थान दिया गया है।

चौथा चरण सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। प्रथम तीन चरणों में उसकी भूमिका माना जा सकता है। असली और प्रभावशाली बात है—क्षतिपूर्ति। जो हानि पहुँचाई गई है, उसकी पूर्ति होनी चाहिए। सड़क पर गड्ढा खोदकर यदि दूसरों के लिए उसमें गिरने का कष्टकारक आचरण किया गया है, तो उसकी क्षतिपूर्ति इसी प्रकार होगी कि जितना श्रम गड्ढा खोदने में किया गया था, उतना ही उसे पूरा करने के लिए किया जाए। गड्ढा पट जाने पर ही उस अनाचार की भरपाई होगी, जिसके कारण अनर्थ होता रहा। विघातक कृत्य के वजन का विधेयात्मक कार्य करने पर ही संतुलन बनता है और क्षतिपूर्ति संभव होती है। पाप

के वजन के बराबर पुण्य करने पर तराजू के पलड़े बराबर होते हैं।

हमारी भावी रीति-नीति, सज्जनता युक्त होनी चाहिए। इन दिनों मनःक्षेत्र में जो दोष-दुर्गुण भरे हों उन्हें भविष्य में चरितार्थ न होने देने का निश्चय करना चाहिए। सज्जनता ही हर दृष्टि से लाभदायक नीति है। यदि अनाचार से लड़ना पड़े तो बहादुरी से उस धर्म युद्ध में उतरा जाए, पर उस मोर्चे पर भी शालीनता को हाथ से न जाने दिया जाए। द्वेष के स्थान पर सुधार को लक्ष्य कर कुमार्गगामियों से लड़ा जा सकता है। उसमें अनीति का प्रतिकार भी हो जाएगा और द्वेष की लपट से अपने आपको जलाने की, प्रतिपक्षी की अपेक्षा अपने को ही अधिक हानि पहुँचाने वाली विपत्ति भी सिर पर न बरसने पाएगी। आत्म-रक्षा की आवश्यकता समझी गई हो तो सबसे पहले भीतर घुसे दुर्भावों से और व्यवहार में आने वाले दुष्कर्मों से अपना पिंड छुड़ाना चाहिए।

सरकारी खजाने की कोई खजांची रकम लेकर भागे। पीछे वह अपनी भूल स्वीकार करे और प्रायश्चित्त करना चाहे तो उसे पहला कदम यही उठाना पड़ेगा कि जो रकम उड़ाई गई थी, उसमें से जितना कुछ बचा हो उसे तो तत्काल वापस जमा करा दिया जाए और शेष के लिए किश्तों में धीरे-धीरे चुका देने की पेशकश की जाए तो समझौता होने की, मुकदमा न चलने और जेल न भुगतने की संभावना बन सकती है। जो रकम हड़पी गई थी उसे डकार लिया जाए और ऐसे ही व्रत-उपवास करके, क्षमा-याचना करके दंड से छुटकारा पा लिया जाए, ऐसा नहीं हो सकता।

प्रायश्चित्तों के साथ दान-पुण्य के विधान जुड़े रहते हैं। इसमें धनदान और श्रमदान दोनों की ही व्यवस्था है। क्षतिपूर्ति इसी रूप में हो सकती है। श्रम और धन वस्तुतः एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। क्षतिपूर्ति के लिए एक का या दोनों का प्रयोग किया जा सकता है। क्षति यदि शारीरिक, मानसिक की गई तो

आवश्यक नहीं कि उसी रूप में उसे पूरा किया जाए। धन के रूप में भी उसे चुकाया जा सकता है। कारखानों में, दुर्घटनाओं में किसी का अंग-भंग हो जाने पर उसकी क्षतिपूर्ति मुआवजे का धन दिलाकर कराई जाती है। मानहानि के मुकदमों के बदले में मानहानि नहीं कराई जाती, वरन् अपराधी से कहा जाता है कि धन देकर क्षतिपूर्ति करे।

यदि धन न हो तो श्रम देकर उसकी पूर्ति हो सकती है। जुर्माना न दे सकने वाले अपराधी को अमुक समय तक जेल में रहकर समाज की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है। अपराध व्यक्ति विशेष के साथ अथवा किसी संस्थान के साथ हुआ, पर सरकार उसका जुर्माना वसूल करती है। कारण स्पष्ट है। सरकार समाज की प्रतिनिधि है। व्यक्ति विशेष के साथ हुए अपराध भी प्रकारांतर से समाज के साथ बरता गया अनाचार ही है। अस्तु, समाज को अधिकार है कि वह अपने किसी घटक के साथ बरती गई अनीति का प्रतिशोध ले और शासनतंत्र के माध्यम से उसे दंडित करे।

आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति को जिस तरह हानि पहुँचाई गई हो—उसकी, उसी रूप में पूर्ति की जाए। बहुत बार ऐसा संभव ही नहीं रहता। यौन सदाचार नष्ट करने पर उसकी क्षतिपूर्ति ठीक उसी रूप में संभव नहीं हो सकती। जो व्यक्ति मर गए हैं या अविज्ञात स्थान को चले गए हैं, उनका उसी रूप में कैसे बदला चुकाया जाए ? यहाँ यही मानकर चलना होता है कि सारा समाज एक है। व्यक्ति उसी के घटक हैं। शरीर के एक अंग के साथ किया गया दुर्व्यवहार समूचे शरीर को कष्ट पहुँचाता है। गाल पर चपत मार देने से मात्र गाल को ही कष्ट नहीं हुआ, समूचे व्यक्ति का अपमान है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति विशेष के साथ किए गए दुर्व्यवहार को पूरे समाज की क्षति माना जा सकता है और उसका बदला सेवा के रूप में चुकाया जा सकता है। फैलाई गई दुष्प्रवृत्तियों की भरपाई के लिए आवश्यक है कि उतने ही परिमाण में सत्प्रवृत्तियाँ फैलाने वाले लोक-मंगल के कार्य

किए जाएँ। इस प्रयोजन में धन एवं श्रम का अधिकाधिक उपयोग करना चाहिए। यदि हानि पहुँचाने के बदले उससे अधिक वजन के सेवा कार्य किए गए तो इसमें भी लाभ ही लाभ है। पुण्य की बढ़ी हुई मात्रा अपने लिए उज्ज्वल भविष्य का आधार बनेगी। चिंता तो तब होनी चाहिए जब पाप की तुलना में पुण्य कम परिमाण में बन पड़ रहा हो।

यहाँ यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि पाप तो बहुत भारी किए हैं, उनके बदले में उतना पुण्य तो बन नहीं पड़ेगा। इसलिए थोड़ा करने से क्या लाभ ? तब न करना ही ठीक है। हमें सोचना चाहिए कि जितना चुक सके उतना चुकाने के लिए तो पूरी ईमानदारी और पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न किया ही जाए। यदि वस्तुतः विवशता ही होगी तो परमेश्वर परिस्थितियों को समझते हैं, वे भावना के अनुरूप निर्वाह भी कर सकते हैं। दिवालिए से एक अंश लेकर ही ऋण देने वाले उसका छुटकारा कर देते हैं। बैंकें भी अपनी पूँजी डूबती देखकर कर्जदार से समझौता करती हैं और कम लेकर भी झगड़ा समाप्त कर लेती हैं। साहूकार जब देखते थे कि आसामी के पास कुछ नहीं है तो जितना वह दे सके, लेकर छुटकारा लिख देते थे, ताकि भविष्य के लिए लेन-देन फिर शुरू हो सके। ऐसी व्यवस्था भगवान् के यहाँ तथा समाज के विधान में भी है। यदि प्रायश्चित्त की क्षतिपूर्ति के लिए सच्ची व्याकुलता है और ईमानदारी के साथ शक्ति भर प्रयास किया गया है, तो उस सद्‌भावना की यथार्थता को परखते हुए विधि-विधान में भी इतनी लोच-लचक विद्यमान है कि उतने भर से पाप-कृत्यों का समाधान हो सके और अंतःकरण के परिमार्जन का वह लाभ मिल सके जो प्रायश्चित्त विधान का मूलभूत उद्‌देश्य है।

❑❑

अभिवर्धन से पूर्व परिशोधन आवश्यक

✵

अभिवर्धन से पूर्व परिशोधन की आवश्यकता सामान्य जीवन में सर्वत्र समझी जाती है, पर आत्मिक प्रगति का प्रसंग जब आता है, तो उस ओर से एक प्रकार मुँह ही मोड़ लिया जाता है। इस उपेक्षा का ही कारण है कि प्रगति के लिए किए गए प्रयास प्रायः निरर्थक चले जाते हैं और यह शिकायत बनी रहती है कि आत्मिक क्षेत्र की सफलताएँ प्राप्त करने के लिए जो उपाय बताए गए, वे सारगर्भित नहीं थे। अधिकांश साधकों को ऐसी ही असमंजस की स्थिति में फँसा और निराशा से खिन्न मनःस्थिति की ओर जाते देखा जाता है। आरंभिक उत्साह को बहुत समय तक स्थिर रखने वाले कोई विरले ही दीखते हैं। इसमें अधीरता तो एक कारण है ही, पर उस कठिनाई की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिसके कारण साधनाएँ अपने प्रभाव का कोई परिचय प्रस्तुत नहीं करती और आशा का कुसुम असमय में ही मुरझाने लगता है।

तथ्यों को खोजने पर एक भयंकर भूल सामने आती है कि अभिवर्धन से पूर्व परिशोधन के सिद्धांत की उपेक्षा कर दी जाती है। सरलतापूर्वक जल्दी उपार्जन के लोभ में ऐसी आतुरता अपनाई जाती है, जिसके अत्युत्साह में परिशोधन की प्रक्रिया पूरी करने के लिए ठहरना बन ही नहीं पड़ता। फलतः एकांगी प्रयास अधूरे रहते हैं, सफलता के लिए समग्र प्रयास चाहिए। आधी-अधूरी प्रक्रिया हर काम में असफलता उत्पन्न करती है तो फिर आत्मिक क्षेत्र ही उसका अपवाद कैसे रह सकता है ? साधनाओं की असफलता का मूल कारण यह अधूरापन ही होता है, जिसमें परिशोधन जैसी आरंभिक आवश्यकता को पूरा किए बिना ही आगे की छलांग लगा दी गई।

दुष्कर्मों के कारण चित्त पर जमे हुए कुसंस्कारों की मोटी परतें आत्मिक प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। उन्हें हटाने को 'परिशोधन' कहते हैं। उपासना का महत्त्व कृषि कर्म करने, उद्यान लगाने जैसा है, जिसके लिए बीजारोपण से भी पूर्व भूमि-शोधन की आवश्यकता है। अच्छी तरह जोतना, भूमि के कंकड़-पत्थर हटाना, खरपतवार उखाड़ना, नमी रखना, खाद देना जैसे कई काम करके भूमि को इस योग्य बनाया जाता है कि उसमें बोया हुआ बीज ठीक तरह उग सके। अंकुरों को बढ़ने और फलने-फूलने की स्थिति तक पहुँचने के लिए उपयुक्त भूमि की आवश्यकता होती है। यदि उसके बनाने में आनाकानी की गई है और जल्दी फसल कमाने के लोभ में भूमि साधना का श्रम निरर्थक समझा गया है तो उसे भूल कर बैठना ही जाना कहा जायेगा; जो आरंभ में तो श्रम बचाने की बुद्धिमत्ता समझा गया था, पर पीछे उसमें बीज भी गँवा बैठने की निराशा ही हाथ लगती है।

आत्मिक प्रगति की साधना का पूर्वार्ध है—आत्मशोधन और उत्तरार्ध है—आत्मविकास। उपासनाएँ आत्म-विकास का प्रयोजन पूरा करती हैं। इसके लिए योगाभ्यास वर्ग के अनेकानेक विधि-विधानों का प्रचलन है। अपनी रुचि, आवश्यकता और परंपरा के अनुसार उनमें साधक चुनाव करते हैं और प्रगति का उपक्रम आरंभ करते हैं; यह उत्तरार्ध है। यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि उत्तरार्ध से लाभ पाने के नए आधार और दृश्य सामने आते हैं और कुछ पाने की आशा तो बँधती है, पर पूर्वार्ध की उपेक्षा करके यह छलाँग प्रायः असफल ही होती देखी गई है। पूर्ण असफल न भी हो भी तो भी उसका प्रतिफल इतना स्वल्प दिखाई देता है, जो आरंभ में सोचे या बताए गए माहात्म्य की तुलना में बहुत ही कम होता है और साधक का मन उदास कर देता है।

होना यह चाहिए था कि विकास प्रयासों का उत्तरार्ध अपनाने के साथ-साथ पूर्वार्ध का परिशोधन पक्ष भी ध्यान में रखा गया होता। इसे तप-साधना कहते हैं। इसके हल्के-भारी अनेकों प्रकार हैं। उन्हें अपनाने से मनोभूमि की कुसंस्कारिता हटती है और उर्वरता उत्पन्न होती है। यही भूमि शोधन है, जिसमें अंकुर उपजाने जैसे उत्साहवर्धक दृश्य तो तत्काल सामने नहीं आते, पर दूरदर्शिता के सहारे निकट भविष्य में अभीष्ट सफलता मिलने का आश्वासन अवश्य मिलता है। अस्तु, साधना की सनातन परंपरा में आत्मशोधन की तपश्चर्या की भी उतनी ही आवश्यकता और महत्ता बताई गई है, जितनी कि उपलब्धियों की झलक दिखाने वाली योग साधनाओं की। अदूरदर्शिता की भूमि की उखाड़-पछाड़ बेकार लगती है और अंकुर उपजाना या पौध लगाना प्रत्यक्ष लाभदायक दीखता है। इतने पर भी तथ्य तो तथ्य ही रहेंगे। शोधन की उपेक्षा करके उपार्जन की उतावली अंततः निराशाजनक ही सिद्ध होती है।

उपासना विधानों का प्रचलन इन दिनों तेजी पर है। बताने वाले ऐसे गुरुओं की बाढ़-सी आई हुई है, जो बहुत ही सरल पूजा प्रक्रिया बताकर लंबे-चौड़े लाभ मिलने का आश्वासन देकर पहली ही बार अनेकों को आकर्षित कर लेते हैं। उनका आरंभ कर देने वाले लोगों की भी कमी नहीं रहती, क्योंकि वे बहुत ही सरल होते हैं। इतने सरल जिससे शारीरिक-मानसिक या अन्य किसी प्रकार का दबाव नहीं पड़ता है। ऐसे ही बाल-क्रीड़ा की तरह उस पूजा-पत्री को पूरा कर देना चुटकी बजाने जैसा खेल मात्र होता है। इतना कुछ करने पर भी देवता को प्रसन्न करके और उससे तरह-तरह के वरदान पाने का लाभ यदि मिलता है, तो उसे कौन छोड़े ? लॉटरी खुलने के लाभ की कल्पना करके, जब एक रुपए का टिकट खरीदने वाले लाखों मिल सकते हैं, तो अत्यंत सरल पूजा विधि के सहारे प्रचुर लाभ पाने का लोभ कौन संवरण कर सकेगा ? स्पष्ट है कि चमत्कारी फलश्रुति बताने वाले

को अपनी बताई विधि को अपनाने वालों की कमी नहीं मिलती; किंतु बताए हुए लाभ न मिलने पर जो निराशा होती है, वह अनास्था में बदलती जाती है। ऐसी दशा में सस्तेपन का प्रलोभन बताने वाले के लिए, उपासना पद्धति के लिए और लोक मान्यता के लिए अहितकर ही सिद्ध होता है।

उपयुक्त मार्ग यही है कि साधना विज्ञान को सही रीति से अपनाया जाए। उचित मूल्य चुकाकर महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने के सिद्धांत पर विश्वास किया जाए। उपासनात्मक प्रक्रिया अपनाने के साथ या उससे भी पहले आत्मशोधन की महत्ता और आवश्यकता समझी जाए। प्रगति के प्रयासों में उसे अनिवार्य रूप में सम्मिलित रखा जाए। योग और तप दोनों एक-दूसरे के पूरक और अन्योन्याश्रित हैं। इन्हें धुलाई और रंगाई की उपमा दी जा सकती है। तप को धुलाई और योग को रंगाई कहा जा सकता है। मैले, कुचैले, चिकनाई और गंदगी से सने कपड़े पर कोई भी रंग नहीं चढ़ता और रंग का पैसा एवं रंगाई का श्रम निरर्थक चला जाता है। इसी प्रकार साधना मार्ग पर चलते हुए आत्मिक प्रगति के साथ जुड़ी हुई अति महत्त्वपूर्ण सफलताएँ जिन्हें सिद्धियों या विभूतियों के नाम से जाना जाता है—प्राप्त कर सकना तभी संभव हो सकता है, जब आत्मशोधन और आत्म विकास की दोनों ही प्रक्रियाएँ समानांतर चलती रहें।

उपासना को योग पक्ष कहते हैं। उसकी विधि व्यवस्था में जप, ध्यान, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, प्रत्याहार, समाधि आदि प्रौढ़ स्तर की और पूजा-पाठ, स्नान, देवदर्शन, कथा, कीर्तन जैसे बाल स्तर के अनेकानेक उपचारों का समावेश है। आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाली, क्षुद्रता को महानता के साथ संबद्ध करने वाली, व्यवहार में आदर्श भर देने वाली और जीवात्मा को परमात्मा बना देने वाली यह समस्त गतिविधियाँ योग कहलाती हैं। योग का अर्थ है जोड़ना। योग साधना को उपासना प्रक्रिया को आत्मिक प्रगति का उत्तरार्ध कहते हैं।

परिशोधन को तपश्चर्या कहते हैं—इस प्रकरण में अपनी अवांछनीय आदतों और मान्यताओं को उलटने के लिए अंतःक्षेत्र में जमी कुसंस्कारिता से संघर्ष करना पड़ता है और आदर्श पालन के लिए कष्ट-कठिनाई को जान-बूझकर आमंत्रित करना और हँसते-हँसते सहना होता है। इसी स्तर के हल्के भारी क्रियाकलापों की तपश्चर्या कहते हैं। व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, मौन, अभ्यस्त सुविधाओं का परित्याग, मितव्ययिता एवं सादगी का वरण, सत्कार्यों के लिए श्रमदान एवं साधनों का अंशदान इसी वर्ग में आते हैं। परमार्थ के लिए किए जाने वाले सभी पुण्य-प्रयास इसी श्रेणी में आते हैं। साधना की प्रौढ़ता में दोनों वर्गों का समावेश आवश्यक है।

धर्मशास्त्र में पाप निवृत्ति और पुण्य प्रवृत्ति के दोनों उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयुक्त साधन चांद्रायण तप बताया गया है। इस पुण्य-प्रक्रिया के पाँच प्रमुख भाग यह हैं—(१) एक महीने तक आहार के घटने-बढ़ने वाला उपवास। (२) गुप्त पापों का प्रकटीकरण। (३) आंतरिक परिवर्तन कर सकने वाले वातावरण में निवास और अनुशासन का प्रतिपालन। (४) अंतःकरण को परिष्कृत करने वाला योगाभ्यासयुक्त तप साधन। (५) दुष्कर्मों की क्षति-पूर्ति और पुण्यवर्धन की परमार्थ परायणता। इन्हें पूरा करने से चांद्रायण तप संपन्न होता है। मात्र एक महीने का उपवास ही चांद्रायण नहीं है।

एक महीने की निर्धारित ब्रह्मवर्चस् साधना क्रम में निम्न पाँचों का समन्वय है—

(१) पूर्णिमा से पूर्णिमा तक एक महीने का उपवास रहता है। पूर्णिमा को पूर्ण आहार कर उसका चौदहवाँ अंश कृष्ण पक्ष में हर दिन घटाया जाता है। शुक्ल पक्ष में उसी क्रम से बढ़ाते रहते हैं। अनभ्यस्त लोगों को 'शिशु' चांद्रायण कराया जाता है और मनस्वी लोगों को यति चांद्रायण। यह स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए शारीरिक काया-कल्प जैसा प्रयोग है। इससे रोग की जड़ें कटती हैं। परम

सात्त्विक हविष्यान्न ही पेट में जाने से विचार परिष्कार और सद्‌भाव संवर्धन का उद्‌देश्य बड़ी अच्छी तरह पूरा होता है। पंच-गव्य सेवन, गौ मूत्र से संस्कारित हविष्यान्न का आहार आदि के माध्यम से गौ संपर्क भी सधता रहता है। प्यास बुझाने के लिए मात्र गंगाजल पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(२) गुप्त पापों का प्रकटीकरण साधना के मार्गदर्शक के सम्मुख करके चित्त की भीतरी परतों पर जमी हुई दुराव की जटिल ग्रंथियों को खोला जाता है। मानसिक रोगों के निराकरण का यह बहुत ही उत्तम उपचार है। जो किया जा चुका उसके परिमार्जन के लिए क्या करना चाहिए ? यह परामर्श प्राप्त करना भी इसी प्रकटीकरण का अंग है।

शीर्ष संस्कार इसी प्रयोजन के लिए है। पूर्ण मुंडन तो नहीं कराया जाता, पर बाल थोड़े छोटे अवश्य हो जाते हैं; जिसका तात्पर्य है संचित दुष्ट विचारों का परित्याग। बच्चों का मुंडन संस्कार भी जन्म-जन्मांतरों की पशु-प्रवृत्तियों को मस्तिष्क में से हटाने के उद्‌देश्य से ही किया जाता है। बाल छाँटने के अतिरिक्त गोमूत्र, गोमय आदि के द्वारा मंत्र विधान सहित शीर्ष-संस्कार किया जाता है। साधक अनुभव करता है कि इस धर्म कृत्य के साथ-साथ उसके मनःसंस्थान में अति महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है।

(३) वातावरण का मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्तित्व के परिवर्तन-प्रयास में वातावरण का परिवर्तन आवश्यक माना गया है। ब्रह्मवर्चस् आरण्यक में वैसी समुचित सुविधा उपलब्ध है। परिमार्जन, संरक्षण और अभिवर्धन के तीनों उद्‌देश्य पूरे करने वाली त्रिवेणी यहाँ विद्यमान है। दिनचर्या में स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिंतन के चारों तत्त्व गुंथे हुए हैं। शारीरिक और मानसिक संयम-अनुशासन की कठोर विधि व्यवस्था का पालन करना पड़ता है। प्रवचन और परामर्श का दैनिक लाभ मिलता है। दिनचर्या, इतनी अनुशासित और व्यवस्थित रहती है कि उस ढर्रे

में ढल जाने वाला भविष्य में अपने आपको सर्वतोमुखी प्रगति में सहायक ढाँचें में ही ढाल लेता है। वातावरण का प्रभाव अभिनव परिवर्तन के रूप में निरंतर अनुभव होता रहता है।

(४) अंतःकरण में दैवी संस्कारों की जड़ जमाने वाले योगाभ्यास और तप साधन चांद्रायण के साथ-साथ ही करने होते हैं। सवा लक्ष गायत्री पुरश्चरण अनिवार्य रूप से आवश्यक है। गायत्री यज्ञ में नित्य ही सम्मिलित होना होता है। इसके अतिरिक्त उच्चस्तरीय पंचकोशी साधना के लिए पाँच योगाभ्यास निश्चित हैं। जप और ध्यान के अतिरिक्त (१) त्राटक (२) सूर्यवेधन प्राणायाम (३) खेचरी मुद्रा (४) सोऽहम् साधना एवं शक्तिचालिनी प्रक्रिया के रूप में नित्य ही करनी पड़ती है। इन साधनाओं का, चेतना क्षेत्र के पाँच प्राणों का और काया क्षेत्र के पाँच तत्त्वों का परिष्कार होने के साथ-साथ जीवन में अभिनव प्राण संचार होता है। शास्त्रों में इसे पंचीकरण योगाभ्यास एवं पंचाग्नि तपश्चर्या कहा है। सर्व साधारण के सध सकने जितना ही दबाव इस एक महीने के साधन क्रम में सम्मिलित किया गया है। गायत्री की पंचमुखी साधना में पंचकोशों के अनावरण का, ग्रंथि-वेधन का रहस्यमय विधान इन्हीं पाँच साधनाओं के अंतर्गत आ जाता है। अंतःचेतना के यह पाँच उभार देवताओं के वरदान जैसे चमत्कारी प्रतीत होते हैं।

(५) पापों की क्षतिपूर्ति एवं पुण्य संपदा की अभिवृद्धि के लिए चांद्रायण व्रत की पूर्णाहुति के रूप में कुछ अवांछनीयताओं का परित्याग और कुछ परमार्थों को अपनाने का संकल्प करना होता है। संग्रह का अंशदान, तीर्थयात्रा के रूप में धर्म प्रचार का श्रमदान, पुण्य प्रयोजनों में सहकार, सत्सृजन में योगदान जैसे कुछ कदम ऐसे उठाने के लिए परामर्श दिया जाता है, जिनके सहारे अंतःकरण पर परिवर्तन को व्यवहार में उतारने की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगे। आंतरिक कायाकल्प—चांद्रायण तपश्चर्या का उद्देश्य है। यह कल्पना क्षेत्र तक ही सीमित

बनकर न रह ज़ाए, वरन् व्यवहार में भी परिलक्षित होने लगे। इसके लिए क्रियात्मक कदम उठाने के लिए वैसा परामर्श मिलता है, जो प्रस्तुत परिस्थितियों में सरलतापूर्वक शक्य हो सके। उपलब्ध सुसंस्कार परिपक्वता के लिए—दूसरों के सम्मुख परिवर्तन के प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कुछ साहसिक कदम उठाने पड़ते हैं। यही चांद्रायण की पूर्णाहुति है।

बीज को वृक्ष रूप में परिणत करना एक चमत्कार है। व्यक्ति को तुच्छ से महान् बनाना भी एक दैवी वरदान है। बीज अनायास ही वृक्ष नहीं बन जाता। उसे उगने से लेकर फूलने-फलने की परिपक्व स्थिति तक पहुँचने में समय और साधनों की आवश्यकता पड़ती है—(१) भूमि (२) खाद (३) पानी (४) सुरक्षा एवं (५) उत्पादक की श्रमशीलता का समन्वय आवश्यक होता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वराधन को सफल बनाने के लिए भी पाँच परिपोषणों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं पाँचों का समन्वय ब्रह्मवर्चस् साधना में है। इस सुनियोजित तप साधना की सामूहिक व्यवस्था से उस युग शक्ति का उद्भव होगा, जिसकी सामर्थ्य से नए युग के सृजन की अनेकों आवश्येयकताएँ पूर्ण हो सकेंगी। व्यक्ति में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण के लिए जिन सृजन शक्तियों को युगांतकारी भूमिका निभानी है, उनकी धार तेज करने के लिए यह एक महीने की चांद्रायण तपश्चर्या अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी यह सुनिश्चित है।

➢ चांद्रायण का सामान्य व्रत विधान

शास्त्रों में प्रायश्चित प्रकरण में कई प्रकार के विधानों का वर्णन है।

कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, तप्तकृच्छ्र, सौम्यकृच्छ्र, पादकृच्छ्र, महाकृच्छ्र, कृच्छ्रातिकृच्छ्र, पर्णकृच्छ्र, सांतापन, कृच्छ्र सांतपन, महा

सांतपन, प्राजापत्य, पराक, ब्रह्मकूर्च आदि विधानों का उल्लेख है। इनमें चांद्रायण व्रतों को तप में सर्वप्रमुख माना गया है।

उसकी क्रिया-प्रक्रिया सर्वविदित है। मोटे नियम इस प्रकार हैं—

एकैकं ह्रासयेत्पिंडं कृष्णे, शुक्ले च वर्द्धयेत्।
इन्दुक्षयेन भुंजीत एव चांद्रायणो विधि।।

—वशिष्ठ

पूर्णमासी को पूर्ण भोजन करके एक-एक ग्रास घटाता जाए। चंद्रमा न दीखने पर अमावस्या और प्रतिपदा को निराहार रहे। पीछे एक-एक ग्रास बढ़ाकर शुक्ल पक्ष के १४ दिनों में पूर्ण आहार तक पहुँच जाए।

ग्रास से तात्पर्य मुर्गी के अंडे जितना तथा मुँह में जितना आहार एक बार में आ सके उतना है।

नित्य स्नायी मिताहारी गुरुदेव द्विजार्चकः।
पवित्राणि जपेच्चैव जुहुयाच्चैव शक्तिः।।
व्रीहिषष्टिक मुद्गाश्च गोधूम सतीला यवाः।
चरुभैक्ष्यं सक्तुकणाः शाकंधृतं दधि पयः।।

—अग्नि पुराण। १७५। ११

नित्य स्नान करें, भूख से कम खाएँ, गुरुदेव, ब्रह्म परायणों का अभिवादन करें, पवित्र रहें, जप करें, हवन करें।

जौ, चावल, मूँग, गेहूँ, तिल, हविष्यान्न, सत्तू, शाक, दूध, दही, घृत पर निर्वाह करें।

चांद्रायण के चार भेद हैं—(१) पिपीलिका (२) यव मध्य (३) यति (४) शिशु। इन चारों के अन्य नियम समान हैं, पर आहार संबंधी कठोरता, न्यूनाधिक है। यति तपश्चर्या अधिक कठिन है और शिशु व्रत साधन में शरीर और मन की स्थिति को देखते हुए सरलता रखी गई है।

➢ पाप पर से पर्दा हटाया जाए

पापों के प्रकटीकरण की प्रक्रिया का एक स्वरूप तो मुंडन कराने, बाल कटवाने के रूप में प्रतीक चिह्न की तरह है। दूसरा चरण है प्रकटीकरण। यह मात्र किसी सत्पात्र के सम्मुख ही हो सकता है। सार्वजनिक घोषणा कर सकने का किसी में साहस हो तो और भी उत्तम, पर इस प्रकटीकरण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यभिचार जैसी प्रक्रियाओं में साथी का नाम, पता आदि प्रकट न किया जाए।

पापों पर पड़े हुए पर्दे को उठाने और प्रकटीकरण की विधा पूरी करने के लिए शास्त्र निर्देश इस प्रकार हैं—

यथा यथा नरोऽधर्म स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहि स्तेनाधर्मेण मुच्यते।।

—मनुस्मृति ११।२२६

जैसे-जैसे मनुष्य अपना अधर्म लोगों में ज्यों का त्यों प्रकट करता है, वैसे-वैसे ही वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता है जैसे केंचुली से साँप।

समत्वे सति राजेन्द्रः तयोः सुकृत पापयोः।
गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः।।

—महाभारत

राजेंद्र जब पुण्य-पाप दोनों समान होते हैं, तब जिसको गुप्त रखा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है उसका क्षय हो जाता है।

तस्मात् प्रकाशयेत् पापं स्वधर्मं सततं चरेत्।
क्लीवो दुःखी च कुष्ठी च सप्त जन्मानि वै नरः।।

—पाराशर स्मृति

पाप को छिपाने से मनुष्य सात जन्मों तक कोढ़ी, दु:खी, नपुंसक होता है। इसलिए पाप को प्रकट कर देना ही उत्तम है।

आचक्षाणेनतत्पापमेतत्कर्म्मास्मिशाधिमाम्।

वह अपने किए हुए पाप को मुँह से कहता हुआ दौड़े कि मैं ऐसे कर्म के करने वाला हूँ, मुझे दंडाज्ञा प्रदान कीजिए।

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते।
स्वल्पं वाथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत्।।
ते हि पापे कृते वेद्या हंतारश्चैव पाप्मनाम्।
व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहा:।।

—पाराशर स्मृति

पाप कर्म बन पड़ने पर छिपाना नहीं चाहिए। छिपाने से वह बहुत बढ़ता है। पाप छोटा हो या बड़ा उसे किसी धर्मज्ञ से प्रकट अवश्य कर देना चाहिए। इस प्रकार उसे प्रकट कर देने से पाप उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे चिकित्सा करा लेने पर रोग नष्ट हो जाते हैं।

रहस्यं प्रकाश्यं च।

—प्रायश्चित्तेंदु शेखर

पापं नश्यति कीर्तनात्।

—धर्म सिंधु

रहस्य के पर्दे को उठा देना चाहिए। पाप के प्रकटीकरण से वे धुल जाते हैं।

तस्मात् पापं न गुह्येत गुहमानं विवर्धयेत्।
कृत्वातत् साधुष्वाख्येतेतत् प्रशमयन्त्युत।।

—महा. अनु. १६२।५६

अतः अपने पाप को न छिपावें, छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषों से कह देना चाहिए। वे उसकी शांति कर देते हैं।

परिशोधन प्रक्रिया में प्रकटीकरण भी एक उपचार है। जो कुकृत्य बन पड़े हैं, उनका प्रकटीकरण आवश्यक है; पर वह होना उन्हीं के सामने चाहिए जो इतना उदार हो कि चिकित्सक की करुणा से अपराधों को धैर्यपूर्वक सुन सकें और घृणा धारण किए बिना उन्हें अपने भीतर पचा सकें। प्रकट करने वाले की निंदा न होने दें। उसे उस प्रकटीकरण के कारण लोकनिंदा के द्वारा होने वाली क्षति न पहुँचने दें, वरन् उसे स्नेहपूर्वक सत्परामर्श देकर सुधरने में सहायता करें। ऐसे व्यक्ति जब तक न मिले तब तक प्रकटीकरण नहीं ही करना उचित है।

➢ चांद्रायण से शक्ति-अभिवर्धन

चांद्रायण तप का एक निषेध पक्ष है—कष्ट सहन, जिसमें आहार घटाने-बढ़ाने की तितीक्षा प्रमुख है। दोषों के प्रकटीकरण से भी पश्चात्ताप करने और लज्जित होने का मानसिक कष्ट है। क्षतिपूर्ति के लिए दान-पुण्य करना अर्थ दंड है। तीर्थयात्रा आदि सत्कर्मों के लिए श्रमदान जैसे परमार्थों में भी कष्ट सहने और त्याग करने की ही बात है। यह सारा समुच्चय आत्म-प्रताड़ना परिकर का है। परिशोधन की प्रक्रिया निषेधात्मक होने के कारण कष्ट सहने की हो सकती है।

दूसरा विधायक पक्ष है—योग, जिसमें परित्याग की रिक्तता पूर्ण करनी पड़ती है। यह उपार्जन है। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ना योग है। योग से हर किसी का परिमाण बढ़ता है। विस्तार, मूल्य और सामर्थ्य में वृद्धि होती है। परित्याग से जो घाटा पड़ा था, उसकी कमी योग की कमाई द्वारा पूरी हो जाती है। शौच जाने से पेट खाली होता है। इस कारण लगने वाली भूख

की पूर्ति भोजन से करनी पड़ती है, तभी उस युग्म उपक्रम से शरीर यात्रा का पहिया आगे लुढ़कता है।

ब्रह्मवर्चस् साधना का यह भूमि-शोधन पक्ष चांद्रायण तप से पूरा होता है। इसके उपरांत बीज बोने और खाद-पानी लगाने की अभिवर्धन उद्देश्य के लिए की जाने वाली प्रक्रिया योग साधना द्वारा संपन्न होती है।

ब्रह्मवर्चस् योगाभ्यास पंचमुखी गायत्री की पंचकोषी साधना है। पाँच प्राणों से चेतना का और पाँच तत्त्वों से काया का निर्माण हुआ है। इन दोनों प्रवाहों के मध्यवर्ती दिव्य शक्ति स्रोतों को पंचकोश कहते हैं। योगशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोश यह पाँच शक्तिशाली आवरण आत्मा पर चढ़े हैं। इन्हें सुरक्षा कवच, वाहन, आयुध आदि भी कहा जा सकता है। ये रहस्यमय रत्न भंडार हैं, जिनमें सिद्धियों और विभूतियों के मणिमुक्तक प्रचुर परिमाण में भरे पड़े हैं। चाबी न होने पर तिजोरी में भरी धनराशि भी अपने किसी काम नहीं आती और अधिपति को भी अभावग्रस्त रहना पड़ता है। इसी प्रकार इन दिव्य कोशों का द्वार बंद रहने पर—आवरण चढ़ा रहने पर मनुष्य को दुःखी-दरिद्रों की तरह गया-गुजरा जीवनयापन करना पड़ता है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना को पंचकोशों की अनावरण साधना कहते हैं। इसी योगाभ्यास को हठयोग की पद्धति के अंतर्गत चक्रवेधन एवं कुंडलिनी जागरण साधना कहते हैं। षटचक्रों का नाम सभी ने सुना है। भ्रू-मध्य भाग से मस्तिष्क प्रारंभ होता है और वह मेरुदंड में होकर जननेंद्रिय क्षेत्र तक चला जाता है। यह समूचा परिधि ब्रह्मलोक या ब्रह्मरंध्र कहलाता है। इसमें सात शक्ति संस्थान हैं। इनमें से छह मध्यवर्ती सक्रिय स्रोत षटचक्र हैं। एक इन सबका अधिपति नियंत्रक है, जिसे महाचक्र, सहस्रार चक्र कहते हैं। इस प्रकार यह पूरा परिकर गिना जाए तो सप्तचक्र बन जाते हैं। इन्हीं का पिंड—ब्रह्मांड में

अवस्थित सप्त ऋषि, सूर्य के सप्त अश्व, सप्त लोक, सप्त सिंधु सप्त मेरु, सप्त द्वीप, सप्त तीर्थ आदि आलंकारिक निरूपणों के साथ अध्यात्म शास्त्रों में वर्णन मिलता है।

सप्त चक्रों की भी एक विवेचना यह है कि नीचे का मूलाधार और ऊपर का सहस्रार यह दोनों क्रमशः प्रकृति और पुरुष के, शक्ति और शिव के, रयि और प्राण के, धरती और स्वर्ग के प्रतीक हैं। पृथकता की स्थिति में यह दोनों बहुत ही स्वल्प काम कर पाते हैं। मूलाधार प्रायः प्रजनन का ताना-बाना बुनता रहता है और शरीर को ऊर्जा, साहस, उत्साह आदि प्रदान करता है। सहस्रार की अर्धमूर्च्छित स्थिति में अचेतन और चेतन दोनों मिलकर कायिक गतिविधियों का संचालन और चिंतन वर्ग के प्रयोजन पूरे करते रहते हैं। यह इन दोनों का निर्वाह मात्र के लिए चलते रहने वाला स्वल्प कार्य है। यदि उन दोनों की तंद्रा छुड़ा दी जा सके और वे समर्थ सक्रिय हो उठें तो फिर समझना चाहिए कि अनंत शक्तियों के, सिद्धियों के स्रोत खुल पड़ेंगे और मनुष्य साधारण से असाधारण बन जायेगा। ऋषि, देवता और अवतारी मनुष्य इसी स्तर के होते हैं। उनकी आंतरिक मूर्च्छना जागृति में परिणत हो गई होती है। कुंभकरण का पौराणिक उपाख्यान इसी स्थिति की झांकी कराता है। जब भी वह दैत्य जागता था, अपनी सामर्थ्य का हाहाकारी परिचय प्रस्तुत करता था। मूलाधार की सामर्थ्य को सर्पिणी कहते हैं और सहस्रार को महासर्प कहा गया है। इन दोनों के मिलन को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। बिजली के अलग-अलग पड़े तार जब भी मिलते हैं, तो चिनगारी छूटती और शक्तिधारा प्रवाहित होती है। इसी स्थिति को कुंडलिनी जागरण कहते हैं। यह सौभाग्य-सुअवसर जिन्हें प्राप्त होता है, वे भौतिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सुसंपन्न पाए जाते हैं। वे आत्मोत्कर्ष का परम लक्ष्य प्राप्त करते और अपूर्ण से पूर्ण बनते हैं। ईश्वर प्राप्ति इसी स्थिति का नाम है।

सहस्त्रार को महासर्प कहा गया है। विष्णु की शेषशैया भी वही है। शिव के अंग में वही लिपटा है। समुद्र मंथन में रस्सी का काम वही करता है। सर्पिणी के रूप में कुंडलिनी शक्ति का वर्णन प्रायः होता रहता है। वह अधोमुखी निद्रित स्थिति में पड़ी रहती है। जाग्रत् होने पर ऊपर उठती और अग्नि शिखा के रूप में देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुँचती है। यह आलंकारिक वर्णन इस बात का है कि जननेंद्रिय मूल में पड़ी हुई यह महाशक्ति जब ऊर्ध्वगामी बनती है तो मेरुदंड मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक जा पहुँचती है और उस क्षेत्र में सन्निहित अगणित दिव्यताओं को अनायास ही जाग्रत् करती है। इसी स्थिति में अतींद्रिय क्षमताओं का जागरण होता है। समुद्र मंथन से चौदह रत्न निकलने के उपाख्यान में मूलाधार के कुंडगह्वर को समुद्र, मेरुदंड को सुमेरू पर्वत, सूर्यवेधन प्राणायाम के इड़ा-पिंगला संघर्ष को मंथन माना जाता है। समुद्र मंथन कुंडलिनी जागरण का महा-पुरुषार्थ है, जिसमें चेतना के देव पक्ष और काया के दैत्य पक्ष को मिल-जुलकर साधनारत होना होता है। इसका सत्परिणाम समुद्र मंथन से निकले १४ प्रसिद्ध रत्नों की तरह साधक को दिव्य विभूतियों के रूप में प्राप्त होता है।

मूलाधार और सहस्त्रार महाचक्रों को यदि कुंडलिनी जागरण साधना के विशेष वर्ग में गिन लिया जाए तो शेष मध्यवर्ती पाँच चक्र ही रह जाते हैं। इन्हें पाँच कोश या पाँच चक्र कह सकते हैं। कोश व्याख्या में इन्हें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कहते हैं। चक्र वर्णन में इन्हीं को स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, वि ुद्ध और आज्ञाचक्र कहा जाता है। यह एक ही तथ्य का दो रूप में वर्णन-विवेचन मात्र है। वस्तुतः है एक ही। चक्रों का जागरण या कोशों का अनावरण एक ही बात है। संख्या की दृष्टि से पाँच, छह या सात की गणना से किसी को भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। गायत्री माता के पाँच मुखों की उच्चस्तरीय साधना परम शांतिदायिनी और महान् शक्तिशालिनी साधना है। इसी प्रक्रिया को ब्रह्मवर्चस् का योगाभ्यास या साधना पक्ष समझा जाना चाहिए।

❐❐

इष्टापूर्ति एवं तीर्थयात्रा

✸

परिशोधन में प्रायश्चित्त साधना तथा क्षतिपूर्ति का समावेश है। चांद्रायण तप जैसी विशिष्ट साधनाएँ परिशोधन के साथ ही अभिवर्धन-आत्मविकास का भी आधार बनती हैं। पापों के तीन वर्ग प्रधान हैं—(१) निरपराध सताना, आक्रमण (२) व्यभिचार, बलात्कार, (३) आर्थिक शोषण, अपहरण, चोरी, बेईमानी।

पाप-कर्मों का प्रायश्चित्त करने में पश्चात्ताप वर्ग की पूर्ति, व्रत-उपवास से, शारीरिक कष्ट सहने से, तितीक्षा कृत्यों से होती है; किंतु क्षतिपूर्ति का प्रश्न फिर भी सामने रहता है। इसके लिए पुण्य कर्म करने होते हैं, ताकि पाप के रूप में जो खाई खोदी गई थी वह पट सके, पुण्य-पाप का पलड़ा बराबर हो सके। दुष्प्रवृत्तियों को सत्प्रवृत्तियों से ही पाटा जा सकता है। इसलिए दुष्कर्म करके जो व्यक्ति विशेष को हानि पहुँचाई गई, समाज में भ्रष्ट अनुकरण की परंपरा चलाई गई—वातावरण में विषाक्त प्रवाह फैलाया गया, उसको निरस्त तभी किया जा सकता है, जब सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन करने वाले पुण्य कर्म करके उसकी पूर्ति की जाए। समाज को सुखी और समुन्नत बनाने वाली सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन आवश्यक माना जाए। इसके लिए समय, श्रम एवं मनोयोग लगाया जाए। धर्म प्रचार की पदयात्रा करके लोक प्रेरणा देने वाले तीर्थयात्रा जैसे पुण्य कर्म किए जाएँ। जो घटना घट चुकी वह अनहोनी तो नहीं हो सकती। आक्रामक कुकर्मों की क्षतिपूर्ति इसी में है कि लगभग उतने ही वजन के सत्कर्म संपन्न किए जाएँ। इसे ही शास्त्रीय शब्दावली में इष्टापूर्ति कहते हैं।

व्यभिचारजन्य पापों का प्रायश्चित्त यही है कि नारी को हेय स्थिति से उबारने के लिए, उसे समर्थ एवं सुयोग्य बनाने के लिए

जितना प्रयास-पुरुषार्थ बन पड़े उसे लगाने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न किया जाए।

आर्थिक अपराधों का प्रायश्चित्त यह है कि अनीति उपार्जित धन उसके मालिक को लौटा दिया जाए अथवा सत्प्रवृत्ति संवर्धन के श्रेष्ठ कामों में उसे लगा दिया जाए। इस अर्थ दान को प्रायश्चित्त विधान का आवश्यक अंग इसलिए माना गया है कि अधिकांश पाप अर्थ लोभ से किए जाते हैं और उनमें न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भौतिक लाभ उठाने का उद्‌देश्य रहता है। यह अनीति उपार्जित धन अपने लिए और अपने परिवार वालों के लिए समयानुसार भयंकर विपत्तियाँ ही उत्पन्न करता है। भले ही तत्काल उससे कोई कमाई होने और सुविधा मिलने जैसा लाभ ही प्रतीत क्यों न होता हो।

जो कमाया गया है उसे बगल में दाबकर रखा जाए। अनीति उपार्जित सुविधाओं का परित्याग न किया जाए। मात्र घड़ियाल के आँसू बहाकर व्रत, उपवास जैसी लकीर पीट दी जाए तो उतने भर से कुछ बनेगा नहीं। व्रत, उपवास तो अनीति अपनाने से आत्मा पर चढ़ी कषाय-कल्मषों की परत धोने भर के लिए हैं। क्षतिपूर्ति का प्रश्न तो फिर भी जहाँ का तहाँ रहता है। जो अनीति बरती है उसकी हानि की भरपाई कर सकना वर्तमान परिस्थितियों में जितना अधिक से अधिक संभव हो, उसके लिए उदार साहस जुटाना चाहिए। घटनाओं की क्षतिपूर्ति अर्थ दंड सहने से भी हो सकती है। रेल दुर्घटना आदि होने पर मरने वालों के घर वालों को सरकार अनुदान देती है। उसमें क्षतिपूर्ति के लिए आर्थिक प्रावधान को भी एक उपाय माना गया है। प्रायश्चित्त विधानों से क्षतिपूर्ति की दृष्टि से दान को महत्त्व दिया गया है। दोनों में गौ दान, अन्न दान, उपयोगी निर्माण आदि के कितने ही उपाय सुझाए गए हैं। वे जिससे जितने बन पड़े, उन्हें वे उतनी मात्रा में करने चाहिए। कुछ भी न बन पड़ें तो श्रमदान, सत्कर्मों

में योगदान तो किसी न किसी रूप में हर किसी के लिए संभव हो सकता है। शास्त्र कहता है—

सर्वस्व दानं विधिवत्सर्व पाप विशोधनम्।

—कूर्म पुराण ३४।६४

अनीति से संग्रह किए हुए धन को दान कर देने पर ही पाप का निवारण होता है।

दत्वै वापहृतं द्रव्यं धनिकस्याप्यु पायतः।
प्रायश्चित्तं ततः कुर्य्यात् कल्मषस्यापनुत्तए।।

—विष्णु स्मृति ५२

जिसका जो पैसा चुराया हो उसे वापस करे और उस चोर कर्म का प्रायश्चित्त करे।

वापसी संभव न हो या आवश्यक न हो तो अनीति उपार्जित साधनों का बड़े से बड़ा अंश श्रेष्ठ सत्कर्मों में लगा देना चाहिए।

आचार्य वृहस्पति के अनुसार—**"उपवासः तथा दानः उभौ अन्योन्याश्रितः।"**

प्रायश्चित्त में उपवास की तरह दान भी आवश्यक है। दोनों एक-दूसरे के साथ परस्पर जुड़े रहते हैं।

प्राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा तद्धनं सद्गतिं नयेत्। यज्ञाद्वा पतितोद्धार पुन्यात् न्याय रक्षणेवापी कूप तड़ागेषु ब्रह्मकर्म समुत्सृजेत्।

—अरुण स्मृति १३६

अनुचित धन जमा हो तो उसे यज्ञ, पतितोद्धार, पुण्यकर्म, न्याय रक्षण, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदि का निर्माण एवं ब्रह्मकर्मों में लगा दें। अनुचित धन की सद्गति इसी प्रकार होती है।

तेनोदपानं कर्त्तव्यं रोपणीयस्तथा वटः।

—शातातप ३।१३

सच्छास्त्र पुस्तकं दद्यात् विप्राय सदक्षिणम्।

—पाराशर

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
पतितान्युद्धरेद्यस्तु व्रतं पूर्ण समाचरेत्॥

—लघु यम

सोऽपि पाप विशुद्ध्यर्थं चरेच्चांद्रायणं व्रतम्।
व्रतान्ते पुस्तकं दद्यात् धेनुवत्ससमन्वितम्॥

—शातातप. २।२६

सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च।
नाशयन्त्याशु पापानि ह्यन्यजन्मकृतान्यपि॥

—सम्वर्त २०१

इन अभिवचनों में सत्साहित्य वितरण, विद्यादान, वृक्षारोपण, कुआँ, तालाब, देवालय आदि का निर्माण, यज्ञ, दुःखियों की सेवा, अन्यान्य पीड़ितों के लिए संघर्ष आदि अनेक शुभ कर्मों में क्षति की पूर्ति के रूप में अधिक से अधिक उदारतापूर्वक दान देने का विधान है। इस दान शृंखला में गौ दान को विशेष महत्त्व दिया गया है। गौ की गरिमा को शास्त्रों में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसलिए गौदान की महिमा बताते हुए प्रायश्चित्त व्रतों के साथ उसे भी जोड़कर रखा गया है। यथा—

गोदानं च तथा तेषु कर्त्तव्यं पाप शोधनम्।

—वृद्ध सूर्यारुण

अर्थात् पापशोधन के साथ ही गोदान भी करना चाहिए।

➢ धर्म प्रचार की पदयात्रा—तीर्थ यात्रा

पाप निवृत्ति और पुण्य वृद्धि के दोनों प्रयोजनों की पूर्ति के लिए तीर्थयात्रा को शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त की तप साधना में सम्मिलित किया है। तीर्थयात्रा का मूल उद्देश्य है— धर्म प्रचार के लिए की गई पदयात्रा। दूर-दूर क्षेत्रों में जन-संपर्क साधने और धर्म धारणा को लोकमानस में हृदयंगम कराने का श्रमदान

तीर्थयात्रा कहलाता है। श्रेष्ठ सत्पुरुषों के सान्निध्य में प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर आत्मोत्कर्ष का अभ्यास करना भी 'तीर्थ' कहलाता है। यों गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने के लिए किए गए प्रबल प्रयासों को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थ का तात्पर्य है तरना। अपने साथ-साथ दूसरों को तारने वाले प्रयासों को तीर्थ कहते हैं। प्रायश्चित्त विधान में तीर्थयात्रा की आवश्यकता बताई गई है।

आज की तथाकथित तीर्थयात्रा मात्र देवालयों के दर्शन और नदी-सरोवर के स्नान आदि तक सीमित रहती है। यह पर्यटन मात्र है। इतने भर से तीर्थयात्रा का उद्‌देश्य पूरा नहीं होता है। सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के लिए किया गया पैदल परिभ्रमण ही तीर्थयात्रा कहलाता है। यह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य संवर्धन के लिए श्रेष्ठ उपचार भी है। धर्म प्रचार के लिए जन-संपर्क साधने का पैदल परिभ्रमण जन-समाज को उपयुक्त प्रेरणाएँ प्रदान करता है। साथ ही उसके श्रमदान से कर्ता की सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन भी होता चलता है। ऐसे ही अनेक कारणों को ध्यान में रखकर तीर्थयात्रा को ऐसा परमार्थ कहा गया है, जिसे कर सकना प्रत्येक श्रमदान करने में समर्थ व्यक्ति के लिए संभव हो सकता है। तीर्थयात्रा का स्वरूप और माहात्म्य शास्त्रकारों ने इस प्रकार बताया है—

नृणा पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्त फलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम्॥

पापी मनुष्यों के तीर्थ में जाने से उनके पाप की शांति होती है, जिनका अंतःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्यों के लिए तीर्थ यथोक्त फल देने वाला है।

तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्धायुक्तः समाहितः।
कृतपापो विशुद्धश्चेत् किं पुनः शुद्धकर्मकृत्॥

जो तीर्थों का सेवन करने वाला, धैर्यवान्, श्रद्धायुक्त और एकाग्रचित है, वह पहले का पापाचारी हो तो भी शुद्ध हो जाता है, फिर जो शुद्ध कर्म करने वाला है, उसकी तो बात ही क्या है।

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।

जो यथोक्त विधि से तीर्थयात्रा करते हैं, संपूर्ण द्वंद्वों को सहन करने वाले हैं, वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।

यावत् स्वस्थोऽस्ति मे देहो यावन्नेंद्रियविक्लवः।
तावत् स्वश्रेयसां हेतुः तीर्थयात्रा करोम्यहम्।।

जब तक मेरा शरीर स्वस्थ है, जब तक आँख, कान आदि इंद्रियाँ सक्रिय हैं, तब तक श्रेय प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा करते रहने का निश्चय करता हूँ।

तीर्थयात्रा का पुण्यफल धर्मशास्त्रों में पग-पग पर भरा पड़ा है। उसके कारण पाप-प्रवृत्तियों का विनाश और उत्कृष्ट सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन का जो प्रयास बन पड़ता है, वही पुण्य फल बनकर परम कल्याणकारी सिद्ध होता है। तीर्थयात्रा का पुण्यफल बताते हुए कहा गया है—

निष्पापत्वं फलं बिद्धिं तीर्थस्य मुनिसत्तम।
कृषेः फलं यथा लोके निष्पभन्नान्नस्य भक्षणम्।।

—देवी भागवत

जिस प्रकार कृषि का फल अन्न उत्पादन है, उसी प्रकार निष्पाप बनना ही तीर्थयात्रा का प्रतिफल है।

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति
यज्ञकृतः सुकृतो एन यन्ति।
अन्नादधुर्यजमानाय लोकं
दिशो भूतानि यदकल्पयन्त।।

—अथर्ववेद १८।४।७

जिस तरह यज्ञ करने वाले यजमान यज्ञादि द्वारा बड़ी-बड़ी आपत्तियों से मुक्त होकर पुण्यलोक की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार तीर्थयात्रा करने वाले तीर्थयात्री तीर्थादि द्वारा बड़े-बड़े पापों और आपत्तियों से मुक्त होकर पुण्यलोक की प्राप्ति करते हैं।

अनुपातकिनस्त्वेते महापातकिनो यथा।
अश्वमेधेन शुद्धयन्ति तीर्थानुसरणेन च।।

—विष्णु स्मृति ६३

महापातकी उपपातकी के शुद्ध करने वाले दो ही साधन हैं—यज्ञ और तीर्थाटन।

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च।
अदत्वा कांचनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते।।

—महाभारत

जो तीन रात्रि तक उपवास नहीं कर सका, जिसने कभी तीर्थ यात्रा नहीं की, जिसने परमार्थ के लिए दान नहीं किया, ऐसा व्यक्ति दरिद्र होता है।

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।।

—महाभारत

ऋषियों का गुह्य मत यह है कि यज्ञों में भी तीर्थयात्रा की विशेषता है।

तीर्थाटन की महिमा का बखान करने वाले कई प्रसंग तुलसीकृत रामचरितमानस में आते हैं।

तीर्थाटन साधन समुदाई,
विद्या विनय विवेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन वेद बखानी,
सब कर फल हरि भगति भवानी।।

—उत्तरकांड

चरन राम तीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिन्ह के उर माहीं।। —अयोध्याकांड

सूरसागर में महात्मा सूरदास तीर्थयात्रा न कर सकने को एक दुर्भाग्य मानते हैं और उसका सुयोग न बन पड़ने पर दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं—

मन की मन ही मांहि रही,
ना हरि भजे न तीरथ सेये, चोटी काल गही।।

—सूरदास

विधिपूर्वक तीर्थ करने से तात्पर्य है, उस परिभ्रमण के साथ-साथ अपनी दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ने और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए भाव भरा प्रबल प्रयास करना।

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।

—नारद पुराण

जो यथोक्त विधिपूर्वक तीर्थयात्रा करते हैं, संपूर्ण द्वंद्वों को सहन करने वाले वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।

कामं क्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थमाविशेत्।
न तेन किंचिदप्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत्।।

—नारद पुराण

जो काम, क्रोध और लोभ को जीतकर तीर्थ में प्रवेश करता है, उसे तीर्थयात्रा से सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

यदि तीर्थाटन पर्यटन-मनोरंजन के लिए किया गया है, तो उसका उतना ही लाभ है, किंतु यदि उंसे आत्म परिष्कार के लिए प्रबल प्रयत्न करके किया गया तो उसका प्रतिफल श्रद्धा के अनुरूप ही होगा। धर्म प्रयोजनों में यह श्रद्धा ही प्रमुख निमित्त है।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवेज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।

तीर्थ, मंत्र, ब्राह्मण, देवता, औषधि, गुरु तथा ज्योतिषी में जिसकी जैसी, जितनी श्रद्धा भावना होती है, उसे वैसा ही फल मिलता है।

येनैकादश संख्यानि यन्त्रितानीन्द्रियाणि वै।
स तीर्थ-फलमाप्नोति नरोऽन्यः क्लेशभाग् भवेत्॥

जिसने अपनी ग्यारह (दस इंद्रियाँ और मन) इंद्रियों को वश में कर रखा है, वही तीर्थयात्रा का वास्तविक फल पाता है; दूसरे अजितेंद्रिय मनुष्य तो केवल क्लेश के ही भागी होते हैं।

तीर्थ में व्यक्ति का परिष्कार होता है यह ठीक है, पर यह भी सत्य है कि उत्कृष्ट स्तर के ब्रह्मज्ञानी किसी भी स्थान को तीर्थ बना देते हैं।

यो न क्लिष्टोऽपि भिक्षेत ब्राह्मणस्तीर्थ सेवकः।
सत्यवादी समाधिस्थः स तीर्थस्योपकारकः॥

जो तीर्थसेवी ब्राह्मण अत्यंत क्लेश पाने पर भी किसी से दान नहीं लेता, सत्य बोलता और मन को वश में रखता है, वह तीर्थ का महिमा बढ़ाने वाला है।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वांतःस्थेन गदाभृता॥

—भागवत

युधिष्ठिर विदुर से कहते हैं, आप जैसे भक्त स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान् के द्वारा तीर्थों को महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।

तीर्थयात्रा का एक उद्देश्य है, उन क्षेत्रों में निवास करने वाले मनीषियों से आत्म कल्याण एवं उज्ज्वल भविष्य निर्माण के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन प्राप्त करना।

तीर्थेषु लभ्यते साधूर्ब्रह्मज्ञानपरायणः।
यद्दर्शनं नृणां पापराशिदाहाशुशुक्षणिः॥

—पद्म पुराण

तीर्थों में ब्रह्मपरायण, साधु-सज्जन मिलते हैं। उनका दर्शन मनुष्यों की पाप-राशि को जला डालने के लिए अग्नि के समान है।

तस्मात् तीर्थेषु गंतव्यं नरैः संसारभीरुभिः।
पुण्योदकेषु सततं साधुश्रोणिविराजिषु।।

—पद्म पुराण

इसलिए जो लोग पाप से डरे हुए हैं और उसके बंधन से छूटना चाहते हैं, उन्हें पवित्र जल वाले तीर्थों में, जो साधु-सज्जनों के समूह से सुशोभित हैं, अवश्य जाना चाहिए।

'तरति अनेन इति तीर्थं'

तारने वाले को तीर्थ कहते हैं। तरना सत्कर्मों, सद्भावनाओं, सद्विचारों एवं सज्जनों के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए इन्हीं को तीर्थ कहते हैं। जिन स्थानों में इन प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाला वातावरण होता है, उन्हें ही तीर्थस्थान कहा गया है।

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः।।

साधुओं का दर्शन बड़ा पुण्यकारक होता है, क्योंकि साधु तीर्थ रूप ही हैं। तीर्थ तो समय पर फल देते हैं, किंतु साधु समागम का तत्काल फल मिलता है।

मुख्या पुरुष यात्रा हि तीर्थ यात्रा नुसंगतः।
सद्भिः समाश्रितो भूमिभागस्तीर्थ तथोच्य ते।।

—स्कंद पुराण

तीर्थ यात्रा के प्रसंग से महापुरुषों के दर्शन के लिए जाना ही तीर्थयात्रा का मुख्य उद्देश्य है, अतः जिस भूभाग में सज्जन निवास करते हैं वही तीर्थ कहलाता है।

ब्राह्मणा जंगम तीर्थं निर्जलं सार्वकामिकम्।
येषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः।।

—शातातपस्मृति १।३०

साधु-ब्राह्मण चलते तीर्थ है, जिनके सद्वाक्य रूपी निर्मल जल से मलिन जन भी शुद्ध हो जाते हैं।

संपूर्ण भारत वर्ष ही तीर्थ स्वरूप है। उसके किसी भी भाग की यात्रा की जाए उसे तीर्थ यात्रा ही माना जाएगा।

त्रयाणामपि लोकानां तीर्थं मध्यमुदाहृतम्।
जाम्बवे भारतं वर्ष तीर्थ त्रैलोक्य विश्रुतम।।
कर्म भूमिर्यतः पुत्र तस्मात्तीर्थ तदुच्यते।।

—ब्रह्म पुराण

तीनों लोकों के मध्य में स्थित कर्मभूमि भारत वर्ष साक्षात् तीर्थ स्वरूप है।

छोटों के लिए एवं बड़े शिष्यों के लिए अज्ञान निवारण करने वाले गुरुजन भी तीर्थ के समान ही श्रद्धास्पद होते हैं।

अज्ञानाख्यं तमस्तस्य गुरुः सर्व प्रणाशयेत्।
तस्माद् गुरुः परं तीर्थ शिष्याणामवनी यते।।

—पद्म पुराण

हे राजन् ! शिष्य के हृदय के अज्ञानांधकार को नष्ट करने वाले गुरु शिष्यों के लिए परम तीर्थ हैं।

तीर्थ स्थान में जाकर पाप परित्याग का अभ्यास करना चाहिए। वहाँ अपने ऊपर कठोर नियंत्रण करके यह प्रयत्न करना चाहिए। उस पुण्य क्षेत्र में कोई अभ्यस्त दुष्प्रवृत्ति भी सक्रिय न होने पाये। तीर्थ मर्यादा का उल्लंघन करके वहाँ किए गए पाप तो और भी अधिक दुःखद एवं दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध होते हैं।

यदन्यत्र कृतं पापं तीर्थे तद् याति लाघवम्।
न तीर्थकृतमन्यत्र क्वचिदेव व्यपोहति।।

दूसरे स्थान पर किया हुआ पाप तीर्थ में क्षीण हो जाता है, परंतु तीर्थ में किया हुआ पाप अन्य स्थानों में कभी नष्ट नहीं होता।

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं पुण्य क्षेत्रे विनश्यति।
पुण्य क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति।।

—स्कंद पुराण

दूसरे क्षेत्रों के पाप-पुण्य क्षेत्रों में नष्ट हो जाते हैं, किंतु पुण्य क्षेत्रों में किए हुए पाप कहीं नष्ट नहीं होते।

तीर्थ यात्रा, पद यात्रा के रूप में ही होनी चाहिए, सवारी पर नहीं, तभी उसका समुचित लाभ मिलता है।

इति ब्रुवन् रसनया मनसा च हरिं स्मरन्।
पादचारी गतिं कुर्यात् तीर्थं प्रति महोदयः।।

वाणी से कीर्तन करते हुए तथा मन में भगवान् का स्मरण करते हुए, पैदल तीर्थयात्रा करने वाले का महान् अभ्युदय होता है।

ऐश्वर्य लोभमोहाद् वा गच्छेद् यानेन यो नरः।
निष्फलं तस्य तत्सर्वं तस्माद्यानं विवर्जयेत्।।

—मत्स्य पुराण १०६।७

ऐश्वर्य के गर्व से, मोह से या लोभ से जो सवारी पर चढ़कर तीर्थयात्रा करता है, उसकी तीर्थयात्रा निष्फल हो जाती है।

आज की स्थिति में ब्रह्मवर्चस् साधना के अंतर्गत आरंभ की गई धर्म प्रचार यात्रा मंडलियाँ ही तीर्थयात्रा का वास्तविक उद्देश्य पूरा कर सकती हैं। ऋषि प्रणीत इस पुण्य परंपरा को नव जीवन देने के लिए ऐसी ही सार्थक तीर्थयात्रा प्रक्रिया देश के कोने-कोने में प्रारंभ होनी चाहिए।

प्राचीन काल में ब्राह्मण ज्ञान के लिए, क्षत्रिय राज्य के लिए यात्रा करते थे। वैश्य व्यापार के लिए यात्रा करता था। यात्रा के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता—१५वीं, १६वीं सदी से ही योरोप के विविध देशों में ज्ञान-पिपासा, नए-नए देशों की खोज और ज्योतिष, भूगर्भ शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन तथा

चिकित्सा आदि विविध क्षेत्रों में अनुसंधान की होड़-सी लग गई है। सत्य के ज्ञान और प्रकृति के रहस्यों के उद्‌घाटन के लिए वैज्ञानिकों और दूसरे यात्रियों ने अपने प्राण संकट में डालकर दुस्साहस के अनेक कार्य किए थे। साहसी यात्रियों की गौरव गाथाएँ सर्वत्र गाई जाती हैं। प्रगतिशीलता का दूसरा नाम यात्रा है। वस्तुतः जीवन की पुकार ही 'चरैवेति चरैवेति' चलना है। चलना है, सब चलते हैं, जीवन गतिमान् है।

यात्रा से मनुष्य की दृष्टि विस्तृत होकर उदार होती है। यात्रा से मस्तिष्क विराट् होता है और हृदय विशाल।

प्राचीनकाल में इसी दृष्टि से १२ वर्ष गुरुकुल में अध्ययन करने के बाद २ वर्ष देश भ्रमण करने की व्यवस्था रहती थी। प्रकृति की विविधता उसके सौंदर्य और भयानकता से जहाँ यात्री आनंद प्राप्त करता है, वहाँ ज्ञान की वृद्धि भी होती है। इस प्राकृतिक आदान-प्रदान से मनुष्य में आध्यात्मिकता की शक्ति एवं सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना जाग्रत् होती है।

वैदिक ऋषि ने गाया है—'जो व्यक्ति चलते रहते हैं, उनकी जंघाओं में फूल खिलते हैं, उनकी आत्मा में फलों के गुच्छे लगते हैं और उनके पाप थककर सो जाते हैं, इसलिए चलते रहो, चलते रहो। तीर्थयात्रा मातृभूमि के प्रति उत्त्कट प्रेम की सर्वथा अभिव्यक्ति है। यह देश पूजा की ऐसी विधि है जिससे धार्मिक भावों को बल मिलता है। साथ ही भौगोलिक चेतना बढ़ती है। तीर्थयात्रा से मिलने वाले पुण्य लाभ के पीछे और भी कितने ही लाभ छिपे हैं ?

यात्रा केवल चरणों से ही नहीं की जाती वरन् मन, बुद्धि, चित्त सभी यात्रा करते हैं। यह सृष्टि का विकास है। तन, मन सब धुलकर निखर जाते हैं।

स्कंद पुराण के काशी खंड में कहा गया है कि तीर्थों के दो भेद है। मानस तीर्थ और भौम तीर्थ। जिनके मन शुद्ध हैं, जो आचरणवान्, ज्ञानी और तपस्वी हैं, ऐसे लोग मानस तीर्थ हैं।

जितेंद्रिय जहाँ रहते हैं वहीं वे तीर्थ बनाते हैं। भौमतीर्थ चार प्रकार के हैं—

(१) अर्थ तीर्थ—नदियों के तट पर और संगम पर व्यापार केंद्र।

(२) धर्म तीर्थ—प्रजाओं के धर्म पालन के निमित्त पवित्र धर्म-नीति के केंद्र।

(३) काम तीर्थ—कला और सौंदर्य साधना के केंद्र।

(४) मोक्ष तीर्थ—विद्या, ज्ञान और अध्यात्म के केंद्र।

जहाँ इन चारों का समुदाय हो और जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों के सूत्र मिलते हों, वे बड़े तीर्थ महापुरियों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं। जैसे काशी, प्रयाग, मथुरा, उज्जयिनी आदि।

महाभारतकार ने वन पर्व ८०।३४-४० में कहा है कि ऋषियों ने वेदों में बहुत-से यज्ञ कहे हैं। उनका फल जीते जी और मरकर लोगों को मिलता है। लेकिन दरिद्र जनता को वह फल कैसे मिल सकता है ? यज्ञों हेतु विद्वान्, विधि विशेषज्ञ एवं साधन-सामग्री की आवश्यकता होती है, निर्धन लोग अकेले बिना बहुत व्यय के यज्ञों का फल पा सकें इसकी युक्ति तीर्थयात्रा है। तीर्थों में जाने का पुण्य यज्ञों से भी अधिक है।

इस प्रकार जनता को सांस्कृतिक आंदोलन में सम्मिलित करने हेतु तीर्थ यात्रा बड़ी सहायक हुई। सुदूर क्षेत्रों, ग्रामों, जंगलों में रहने वाले लोग जो धर्म, संस्कृति, क्रिया और सदाचार की प्रवृत्तियों से अपरिचित रहते थे, वे भी तीर्थयात्रा के निमित्त स्वेच्छा से तीर्थ केंद्रों में आते और उनके संस्कार ले जाते थे।

ऋषियों की जीवन प्रक्रिया का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उनका अधिकांश समय परिभ्रमण में बीता। यही कारण है कि जहाँ अन्य वर्ग के महापुरुषों के स्थान, स्मारकों के चिह्न मिलते हैं वहाँ ऋषियों के इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व होते हुए भी न तो किसी स्थान विशेष पर टिके और न उनके स्थान बने।

मध्यकालीन संतों में से प्रायः प्रत्येक की क्रिया-प्रक्रिया यही रही है। उन्होंने अध्ययन एवं विशिष्ट तप साधना के लिए जितने समय जहाँ रुकना आवश्यक समझा, वहाँ रुके और इसके पश्चात् परिभ्रमण के लिए निकल पड़े। सिखाना और सीखना यही उनकी प्रधान प्रवृत्ति रही।

तीर्थयात्रा का पुण्य उस प्रयोजन के लिए बने नगरों, देवालयों एवं नदी-सरोवरों से जोड़कर भूल की गई है। वस्तुतः तीर्थयात्रा धर्म प्रचार की एक सुव्यवस्थित योजना है, जिसमें विराम-विश्राम के लिए प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों को चुना गया है। इन यात्रियों के लिए कई तरह की सुविधाएँ यहाँ साधन संपन्न लोग जुटा दिया करते थे। भोजन, वस्त्र, पात्र, मार्ग व्यय, पुस्तक, पूजा उपकरण, औषधि आदि जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती वे सभी तीर्थ-मठों में संचित रहती थीं और धर्म प्रचारकों को आवश्यकतानुसार वे साधन सरलतापूर्वक मिल जाते थे। सत्संग, शिक्षण और अन्य ज्ञातव्य साधन यहाँ रहते थे और आगे की यात्रा के लिए साथियों, सहयोगियों का हेर-फेर भी यहीं बन जाता था। इन्हीं कारणों से अमुक स्थान तीर्थ घोषित किए गये। उन विराम-स्थलों पर प्रचारकों का पारस्परिक मिलन, संपर्क एवं कई तरह का आदान-प्रदान भी होता रहता था। जंक्शन की तरह कितने ही मार्गों के यात्री उधर से गुजरते और अनेक प्रकार के पारस्परिक संपर्क साधते हुए लाभान्वित होते थे। स्थानों को महत्त्व मिलने के ऐसे ही कुछ कारण हैं। इतने पर भी स्थान विशेष पर जाकर कुछ देखने-करने को नहीं, धर्म प्रचार के लिए पैदल यात्रा को ही तीर्थयात्रा का लक्ष्य एवं प्रयोजन माना गया है। वह उद्देश्य यहाँ न बन पड़े तो समझना चाहिए कि मात्र प्राण विहीन कलेवर ही लटक रहा है।

प्राचीन काल की तीर्थयात्रा मंडलियों में दो वर्ग के लोग रहते थे। एक वे मनीषी जो अपने साथियों तथा संपर्क क्षेत्रों को अपने ज्ञान तथा अनुभवों का लाभ पहुँचाते चलते थे। दूसरे वे जिज्ञासु जो

मंडली के वातावरण में अपने को श्रेष्ठता के लिए प्रशिक्षित करते थे, ताकि भविष्य में वे इस आधार पर उपार्जित किए चरित्र, ज्ञान एवं कौशल के आधार पर प्रचारकों की अगली भूमिका निभा सकें। यात्रा में कई व्यक्ति रहने से सुविधा भी रहती है और शोभा भी। भोजन आदि की दैनिक व्यवस्था और किसी के रुग्ण हो जाने पर परिचर्या, सुविधा का लाभ भी मंडली में ही बन पड़ता है। संपर्क में कई प्रकार के कितने ही लोगों से वार्त्तालाप आदान-प्रदान करना पड़ता है। इसमें कई व्यक्तियों का होना ही उपयुक्त रहता है। एक या दो व्यक्ति हों तो निजी व्यवस्था एवं संपर्कजन्य समस्याओं का निपटारा कठिन पड़ जाए। ऐसे ही अनेक कारणों को ध्यान में रखते हुए तीर्थयात्रा एकाकी नहीं वरन् टोलियों के रूप में निकलती थी। यों निषेध एकाकी का भी नहीं है। द्रुतगामी वाहनों के उपयोग से शारीरिक सुविधा तो रहती है पर अधिक लोगों से अधिक संपर्क उस जल्दबाजी में बन ही नहीं पड़ता। पैदल चलते हुए तो मार्ग में भी कितनों से ही बातें होती चलती हैं। वाहनारूढ़ व्यक्ति के लिए वैसा कर सकना संभव नहीं है।

नदियों, पर्वतों, पुण्य-क्षेत्रों की परिक्रमाएँ अभी भी होती हैं। नर्मदा के उद्गम से लेकर अंत तक की परिक्रमा हर साल निकलती है। गिरनार और गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा का पुण्य है। ब्रज की चौरासी कोस, प्रयाग की पंचकोशी परिक्रमाएँ प्रसिद्ध हैं। शिवरात्रि पर लोग कंधों पर गंगाजल की 'काँवरें' उठाते हैं और अमुक शिवालय पर उन्हें चढ़ाते हैं। मार्ग में यह यात्री लोग भजन-कीर्तन गाते हुए चलते हैं, ताकि चलते-चलते भी उद्बोधन का प्रयोजन पूरा होता चले। अब चिह्न पूजा प्रधान और लक्ष्य तिरोहित हो गया है। यदि लक्ष्य को प्रधान और चिह्न पूजा को आवश्यकतानुसार बना लिया जाए तो तीर्थयात्रा की पुण्य परंपरा अपने युग की आवश्यकता पूरी करने में भी प्राचीन काल की तरह ही अतीव श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है।

भक्ति और तीर्थयात्रा प्राचीन काल में परस्पर सघनतापूर्वक जुड़ी रही है। तपश्चर्याओं में उसे प्रधानता माना गया है। तितिक्षा के अन्य साधन भी तप के रूप में बताए गए हैं, पर तीर्थयात्रा के साथ जो व्यक्ति एवं समाज का विविध-विधि हित साधन होता है, उसे ध्यान में रखते हुए इसका प्रचलन बहुत हुआ है और महत्त्व अधिक मिला है। प्रख्यात धर्म पुरुषों में से अधिकांश ने अपनी कार्य पद्धति में तीर्थयात्रा तप को प्रधान रूप से सम्मिलित रखा है। छोटे या बड़े संतों की जीवनचर्या पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आ खड़ा होता है।

देवर्षि नारद जी निरंतर यात्रा निरत रहे। कहते हैं दो घड़ी से अधिक कहीं न ठहरने का उन्हें अभिशाप था। देवर्षि नारद जी तो नित्य परिव्राजक हैं, उनका काम ही है अपनी वीणा की मनोहर झंकार के साथ भगवान् के गुणों का गान करते हुए सदा यात्रा करना। भक्ति सूत्र निर्माता नारद जी के संबंध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—संपूर्ण पृथ्वी पर घर-घर में एवं जन-जन में भक्ति की स्थापना करना।

दक्षिण में असुरों के बढ़ते हुए अत्याचार को रोकने के लिए अगस्त्य ऋषि ने दक्षिण की यात्रा कर वहाँ अपना आश्रम बनाया। लक्ष्मण को अगस्त्याश्रम का परिचय देते हुए राम कहते हैं—

यदा प्रभृति चक्रान्ता दिगियं पुण्य कर्मणा।
तदा प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः।।

—वाल्मी० रामा०

उन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्य ने जब इस दक्षिण दिशा में पदार्पण किया है, तब से यहाँ के राक्षस शांत हो गए हैं तथा उन्होंने दूसरों से बैर-विरोध करना छोड़ दिया है।

भगवान श्रीराम का तीर्थयात्रा प्रेम अद्‌भुत था। उनकी तीर्थयात्रा के बारे में स्कंद, पद्‌म, अग्नि, ब्रह्म, गरुड़ तथा वायु आदि पुराणों में विस्तार से बताया गया है।

योग वाशिष्ठ में राम के बचपन में ही वशिष्ठ आदि ब्राह्मणों के साथ अनेकों नदियों तथा मानसरोवर आदि तीर्थों में भ्रमण करने का विस्तार से वर्णन है।

आनंद रामायण में भगवान् राम की अपने अनुचरों के साथ की गई तीर्थयात्रा का 'यात्रा कांड' में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस यात्रा में भगवान् राम ने देश के सभी तीर्थों का भ्रमण किया था।

भगवान् राम सारे जीवन यात्रा ही करते रहे। इस यात्रा में पुराने तीर्थों का उद्धार, नए तीर्थों की स्थापना, धर्म प्रचार, दुष्टता का उन्मूलन आदि अनेक उद्‌देश्य निहित थे।

चौदह वर्ष के वनवास काल में भगवान् जहाँ-जहाँ गए वे स्थान तीर्थ बन गए।

वनवास गतो रामो यत्र यत्र व्यवस्थितः।
तानि चोक्तानि तीर्थानि शतमष्टोत्तरं क्षितौ।।

—कूर्म पुराण

वनवास के समय राम जहाँ-जहाँ रहे वहीं तीर्थ बन गए, ऐसे तीर्थों की संख्या १०८ हो गई थी।

लोक कल्याण के व्रती महात्मा बुद्ध ने लगातार ४५ वर्ष तक देश भर में भ्रमण करके जनता को सत्य धर्म का उपदेश दिया और उनको अनेकों कुरीतियों और अंधविश्वासों से छुड़ाकर कल्याणकारी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी।

सम्राट् अशोक ने तेईस वर्ष तक राज्य करने के उपरांत ईसा पूर्व २४९ में अपने राज्य के तीर्थस्थानों का भ्रमण किया। पाँच लाटों में अंकित वृत से यह पता चलता है कि वे मुजफ्फरपुर और चंपारन होते हुए हिमालय की तराई तक गए और वहाँ से पश्चिम की ओर मुड़कर लुंबिनी वन पहुँचे, जहाँ तथागत का जन्म हुआ था। अपनी यात्रा के स्मारक के रूप में उन्होंने लुंबिनी वन में भी एक लाट स्थापित की थी। आचार्य

उपगुप्त के साथ फिर कपिलवस्तु, सारनाथ एवं श्रावस्ती गए। इस प्रकार बौद्ध तीर्थों की यात्रा करते-करते सम्राट् अशोक कुशीनगर पहुँचे। तीर्थयात्रा के उपरांत अशोक ने संन्यास धारण कर लिया एवं सारा समय धर्मचर्या एवं धर्मोपदेश में बिताया।

जगद्‌गुरु आद्य शंकराचार्य ने दिग्विजय का समारंभ किया। अनंतशयन, अयोध्या, इंद्रप्रस्थपुर, उज्जयिनी, कर्नाटक, काँची चिदंबर, बदरी, प्रयाग आदि तीर्थ क्षेत्रों और महानगरों में आत्मज्ञान और धर्म का प्रचार किया। काश्मीर से रामेश्वर तक की विद्वन्मंडली ने उनकी विद्वता का लोहा मान लिया। उन्होंने पदयात्रा के अंर्तगत दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में जगन्नाथपुरी में गोवर्धन, पश्चिम द्वारका में शारदा और उत्तर बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ की स्थापना की।

संत ज्ञानेश्वर ने आलंदी से, नेवा से वापस आने पर, पंद्रह वर्ष की आयु में विक्रम संवत् १३४७ में 'ज्ञानेश्वरी गीता' का प्रणयन किया; तदुपरांत तीर्थयात्रा आरंभ की। उनके साथ निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, नरहरि, सोनार, चोखामेला आदि तत्कालीन संत थे। वे पंडरपुर गए। वहाँ से संत नामदेव उनके साथ हो गए। फिर उक्त संत मंडली ने उज्जैन, प्रयाग, काशी, अयोध्या, गया, गोकुल, वृंदावन, गिरिंनार आदि तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की। लोगों को अपने सत्संग से सचेत कर जागरण का सर्वत्र संदेश सुनाया। संत ज्ञानेश्वर की इस ऐतिहासिक, लोक-शिक्षण परक तीर्थयात्रा की बड़ी ख्याति सुदूर क्षेत्रों में फैल गई। वे मारवाड़ और पंजाब की ओर भी गए। तीर्थयात्रा से लौटने पर पंढरपुर में संत नामदेव ने इस यात्रा-यज्ञ की पूर्ति स्वरूप एक विशाल उत्सव का आयोजन किया।

संत एकनाथ अपने अनुष्ठान की पूर्ति के बाद गुरु आज्ञा से तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। उनकी तीर्थयात्रा में जनार्दन पंत ने नासिक त्र्यंबकेश्वर तक उनका साथ दिया। ब्रह्मगिरि की परिक्रमा के उपरांत गोदावरी, ताप्ती, गंगा और यमुना का स्नान किया। आठों विनायक और बारह ज्योतिर्लिंग के दर्शन किए। वृंदावन, काशी,

प्रयाग, गया, बदरिकाश्रम एवं द्वारका की यात्रा की। संत एकनाथ ने १३ साल तक यात्रा की। २५ वर्ष की अवस्था में वे पेठ्ठा लौट आए।

चैतन्य महाप्रभु ने भी सामूहिक एवं एकाकी रूप से अनेक स्थलों का परिभ्रमण किया। गया गए, फिर नीलाचल के उपरांत दक्षिण की यात्रा की। अपने भक्त और अनुचर गोविंद को लेकर वे हाजीपुर, मिदनापुर होते नयनगढ़ गए। चैतन्य ने अलौकिक प्रेम भाव का ही उपदेश दिया। ढलेश्वर, जलेश्वर, हरिहरपुर, बलशोर होते हुए नीलगढ़ गए। अपनी तीर्थयात्रा में उन्होंने जनमानस का परिष्कार किया। सत्याबाई और कमलबाई वेश्याओं का हृदय परिवर्तन किया। महाप्रभु कांचीपुरम् गए, शिवकांची, पक्षी तीर्थ, काल तीर्थ, संधि तीर्थ आदि पवित्र तीर्थों के दर्शन करते हुए वे तिरुचिरापल्ली पहुँचे। तंजाबूर, कुंती, कर्ण, पड़ा, पट्टनकोट, त्रिपत्र, श्रीरंगम, रामेश्वर आदि दक्षिण भारत के अनेक तीर्थों का महाप्रभु ने भ्रमण किया। महाराष्ट्र के बाद गुजरात के द्वारका, सोमनाथ, जूनागढ़, प्रभास क्षेत्र होते हुए मध्यभारत के अनेक स्थलों के दर्शनार्थ गए। अंत में उत्तर भारत की यात्रा अकेले पैदल की। मथुरा-वृंदावन, प्रयाग, काशी गए। काशी का मन जीत श्री चैतन्य ने भारत का मन जीत लिया। मात्र ४८ वर्ष की आयु पाकर ही उन्होंने तीर्थयात्रा द्वारा लाखों पतित पददलितों का उद्धार किया। जो समाज में पदच्युत थे उन्हें नई हैसियत दी। समग्र समाज को जीने के लिए एक नयी आस्था प्रदान की।

गोस्वामी तुलसीदास ने १४ वर्ष तक तीर्थयात्राएँ कीं। वे प्रयाग, जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका, बदरिकाश्रम आदि पावन स्थलों के दर्शनार्थ गए। तीर्थयात्रा के बाद वे काशी में रहकर संतों का संग और राम की कथा कहने लगे।

संत तुकाराम ने तत्कालीन महाराष्ट्र को ही नहीं, संपूर्ण भारतीय राष्ट्र को आत्मदर्शन एवं भगवद्दर्शन प्रदान किया। पंढरी की यात्रा का उन्होंने आजीवन पालन किया।

गुरु नानक जी लगभग तीस वर्ष की आयु में सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर भटकती हुई मानवता को सत्य मार्ग का

उपदेश देने निकल पड़े। गुरु नानक ने देश-विदेश की व्यापक यात्राएँ कीं। उन्होंने १५ वर्ष तक भारतवर्ष की चारों दिशाओं में सभी प्रमुख स्थानों की यात्राएँ कीं और अंत में अफगानिस्तान, ईरान, अरब और इराक तक गए।

समर्थ गुरु रामदास ने १२ वर्ष के तप के उपरांत १२ वर्ष तक तीर्थयात्रा की एवं सं० १७०१ के वैशाख मास में कृष्णा नदी के तट पर आए। तीर्थ यात्रा के प्रसंग में श्री समर्थ जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ इन्होंने मठ स्थापित किए। लोक कल्याण की भावना से धर्म स्थापनार्थ उस युग में जब रेल, तार, जहाज, अखबार प्रेस आदि का सर्वथा अभाव था, समस्त देश घूमे। वे सर्वप्रथम काशी गए। फिर मथुरा-वृंदावन से पंजाब, श्रीनगर एवं काश्मीर पहुँचे। वहाँ से चलकर हिमालय में केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा की। उत्तरांखंड के उपरांत जगन्नाथ गए। लंका से वापस होते हुए केरल, मैसूर, फिर महाराष्ट्र आ गए। यहाँ उन्होंने गोकर्ण, वैंक्टेश, मल्लिकार्जुन, बाल नरसिंह, पालन नरसिंह का दर्शन किया, इसके बाद पठ्यसर, शिष्यमूक, करवीर क्षेत्र, पंढरपुर आदि होकर पंचवटी लौट आए।

पुष्टिमार्गी संत गोस्वामी विट्ठलनाथ ने गुजरात दक्षिण और मध्यभारत के तीर्थों की यात्रा की। बादशाह अकबर, मानसिंह, बीरबल, महारानी दुर्गावती, राजा आसकरण आदि उन्हें बड़े सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखते थे।

कृष्णोपासक संत दयारामभाई ने तीर्थयात्रा संपादित की। दयाराम भाई श्रीनाथद्वारा से काकरोली गए। काकरोली से मथुरा, वृंदावन, गोकुल आदि की यात्रा की। उन्होंने संपूर्ण ब्रज मंडल के चौरासी कोस की परिक्रमा की। तीर्थयात्रा से लौटने पर दयाराम भाई ने बड़ौदा के गोस्वामी श्री बल्लभलाल जी महाराज से ब्रह्म संबंध लिया।

सन् १८८८ में स्वामी विवेकानंद देश भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने लगातार कई वर्ष तक देशव्यापी यात्रा परिभ्रमण किया। इस यात्रा से उन्होंने भारतीय विभिन्न वर्गों की अच्छी जानकारी

प्राप्त की। राजस्थान में पहले वे अलवर गए। घूमते-घूमते ज्ञानोपदेश करते लिंबड़ी-काठियावाड़ गए। फिर मैसूर पहुँचे। फिर वे रामेश्वर होकर कन्याकुमारी पहुँचे। बाद में अमेरिका, इंग्लैंड एवं अन्य पाश्चात्य देशों की यात्रा की।

स्वामी रामतीर्थ ने अपनी देश-विदेश की यात्राओं में अध्यात्म का सच्चा स्वरूप प्रतिपादित किया। सनातन धर्म सभा के प्रसिद्ध उपदेशक दीनदयाल शर्मा के साथ उन्होंने ब्रज, प्रयाग और काशी की तीर्थयात्रा की। उत्तराखंड की भी यात्रा की। हिमालय के अंचल से मैदान में उतरकर उन्होंने मथुरा, फैजाबाद, लखनऊ आदि की यात्रा कर वेदांत पर महत्त्वपूर्ण भाषण किया। स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका, जापान तथा मिश्र आदि देशों की जनता को सत्य, शांति और प्रेम का संदेश दिया।

स्वामी दयानंद विद्याध्ययन के उपरांत प्रायः परिभ्रमण ही करते रहे, आर्य समाजों की स्थापना, उन्हें गति देना, शास्त्रार्थ, साहित्यलेखन आदि सभी कार्य उन्होंने अपने प्रवास कार्य के साथ ही संपन्न किए थे।

कवींद्र रवींद्रनाथ टैगोर ने विलायत से लौटकर तीर्थयात्रा की। उन्होंने देश के गरीबों की स्थिति का अध्ययन करने हेतु कलकत्ते से पेशावर तक बैलगाड़ी में यात्रा की। यद्यपि उस समय रेलगाड़ी चल निकली थी किंतु रेलयात्रा से पिछड़े हुए गाँवों और भूखे नंगे कृषकों की अवस्था का क्या पता लग सकता था ?

अफ्रीका से लौटने पर गांधी जी ने एक वर्ष तक समस्त देश का भ्रमण किया। एक वर्ष तक देश की यात्रा करने के उपरांत गांधी जी अहमदाबाद लौटे और वहाँ साबरमती नदी के किनारे उन्होंने अपने सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। उनकी डांडी नमक सत्याग्रह यात्रा एवं नोआखली की सांप्रदायिक सद्भाव यात्रा तो प्रसिद्ध ही है।

संत विनोबा ने पूरे देश में पैदल घूम-घूमकर लाखों गरीबों की जीविका की व्यवस्था करने के साथ भारतीय जनता की दशा का निरीक्षण किया और उसकी समस्या को समझा। पाकिस्तान

की भी पदयात्रा की। चौदह वर्ष सन् १९५१ से १९६४ तक लगभग ४३ लाख मील की पैदल यात्रा करके विनोबा ने जब पुनः अपने आश्रम में प्रवेश किया तो उस समय उनको ४२,३६,८२७ एकड जमीन भूदान में मिली और ७५६० ग्राम दान में मिले।

ईसा मसीह ने अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए विदेशों की यात्रा की थी। डॉ० नोटोविच की कृति 'ईसा मसीह का अज्ञात जीवन चरित्र' के अनुसार चौदह वर्ष की आयु में ईसा सौदागरों के एक दल के साथ भारत (सिंध) आ पहुँचे। इसके बाद वे जगन्नाथ गए। वहाँ उन्होंने वेदशास्त्र का अध्ययन किया। फिर बनारस आदि स्थानों की यात्रा में ६ वर्ष व्यतीत हो गए। फिर कपिलवस्तु पहुँचे। बौद्ध शास्त्रों का भी उन्होंने अध्ययन किया। उसके पश्चात् वे नेपाल और हिमालय से होते हुए ईरान पहुँच गए। तदुपरांत स्वदेश पहुँच स्वजातीय भाईयों में उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करने लगे, जो उन्होंने इतने वर्ष के अध्ययन और स्वानुभव से प्राप्त किया था।

अन्यान्य धर्म संस्थापकों ने भी यही किया। इस्लाम धर्म के पैगंबर हजरत मुहम्मद साहब ने अपनी धर्म प्रचार यात्रा जारी रखी। पारसी, यहूदी, ताओ आदि संसार के प्रधान धर्म संप्रदायों के संस्थापकों एवं प्रचारकों को अपना अधिकांश समय धर्म प्रचार की तीर्थ यात्राओं में ही व्यतीत करना पड़ा है।

यह तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। इनकी गणना की जाए और सूची बनाई जाए तो ऐसे प्रख्यात धर्मात्मा कहे जाने वाले प्रायः सभी लोग धर्म प्रचार की तीर्थयात्रा को अपनाए हुए मिलेंगे। जिन्हें एक स्थान पर बैठकर शोध, लेखन, शिक्षण आदि कार्य करने पड़े हैं, उन्होंने भी कभी न कभी लंबी तीर्थयात्राओं का पुण्य संपादित किया है। सामान्य गृहस्थ भी अपनी व्यस्तता में से भी अवकाश निकालकर इस पुण्य लाभ के लिए समय निकालते रहे हैं। स्व-पर कल्याण का इससे अच्छा, रोचक एवं उपयोगी धर्म कृत्य दूसरा कोई भी नहीं है।

तीर्थयात्रा के नाम पर स्थान दर्शन को आज महत्त्व मिल गया है। इस भगदड़ में मात्र निहित स्वार्थी तत्त्वों को ही धन बटोरने का अवसर मिलता है। पर्यटन अपनी जगह पर कायम रहे, पर उसे तीर्थयात्रा का नाम न मिले। इन विडंबनाओं को बदला जा सके और युग की आवश्यकता पूरी कर सकने वाली तीर्थयात्रा प्रक्रिया को योजनाबद्ध रीति से सुनियोजित किया जा सके, तो यह महान् धर्म परंपरा आज की स्थिति में भी पूर्वकाल की तरह ही व्यक्ति और समाज के लिए सर्व प्रकार हितकारक सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार तप-साधना, तीर्थयात्रा, क्षतिपूर्ति या इष्टापूर्ति के द्वारा प्रायश्चित्त-प्रक्रिया संपन्न कर जो साधक आत्मशोधन कर डालते हैं, उन्हीं की चांद्रायण-साधना एवं अन्य योग साधनाएँ शक्ति-संवर्धन, आत्मविकास जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का आधार बनती हैं। अतः आत्मविकास, के इच्छुक साधकों को, जीवन को सार्थक बनाने के आकांक्षी प्रत्येक व्यक्ति को कर्मफल का अटल सिद्धांत एवं प्रारब्ध का यथार्थ स्वरूप ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए तथा अपनी स्थिति का चिंतन-मनन कर आत्मशोधन, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास के पथ पर संकल्पपूर्वक बढ़ चलना चाहिए। आवश्यक प्रायश्चित्त-प्रक्रिया को अपनाये बिना प्रारब्ध के अनिष्ट-भोग से बचने के लिए अपनाई जाने वाली सस्ती तरकीबें और तिकड़में, बाधाओं-व्यवधानों, कष्टों-क्लेशों को और अधिक बढ़ाएँगी और तब दैव को व्यर्थ ही दोष देने से अपनी पीड़ा-परेशानियाँ ही बढ़ेंगी। प्रायश्चित्त की शास्त्रीय प्रक्रिया का सही स्वरूप समझकर उसे अपनाने पर ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है तथा न केवल स्वयं के पूर्वकृत पापों का क्षय हो सकता है, अपितु दूसरों को भी पुण्य-प्रवृत्तियों में नियोजित करने, औरों की सेवा-सहायता करने तथा जीवन को उत्कृष्ट-धन्य बनाने की शक्ति अर्जित की जा सकती है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।